वाग्विमर्श

प्रो. राममूर्ति त्रिपाठी

प्रकाशक :
अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्
हजरतगंज, लखनऊ

वाग्विमर्श

प्रो. राममूर्ति त्रिपाठी

अखिल भारतीय संस्कृत-परिषद्
महात्मा गाँधी मार्ग, हज़रतगंज
लखनऊ – 226 001

प्रकाशक :
अखिल भारतीय संस्कृत-परिषद्
महात्मा गाँधी मार्ग, हज़रतगञ्ज
लखनऊ – 226 001
फोन – 223962

प्रथम संस्करण
वर्ष 2002

मूल्य – रु. 45.00

मुद्रक :
पनार आफसेट
इन्द्रा अनुष्ठान
गुईन रोड, अमीनाबाद
लखनऊ
फोन : 213565, 223757

Publishers' Note

It was with the inspiration and guidance of the Late Shri Gopal Chandra Sinha, Founder-Secretary of the Akhila Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow that the two Lecture Series were started by the Parishad. The one is in memory of its Founder-President, the late Prof. K.A.S. Iyer, an erudite scholar of Sanskrit Language and Literature and the other one in memory of the late Prof. Mangal Deva Shastri, a great scholar of the Vedic Literature. It was decided that these lectures be published in the Ṛtam, the multi-lingual Half-Yearly Research Journal of the Parishad and also separately in the form of books. It is in pursuance of this policy that the three lectures delivered by Prof. Ram Murti Tripathi, a scholar of Sanskrit and Hindi in his own right and Former Professor and Head, Department of Hindi, Vikram University, Ujjain, have been published in the columns of the Ṛtam. Simultaneously they are being brought out separately in the form of a book.

The lectures contained herein are entitled as under :

1. स्फोटवाद
2. स्फोट और ध्वनि सिद्धान्त
3. शब्द और सृष्टि

Prof. Tripathi combines in him the traditional learning of Sanskrit and the modern and critical study of Hindi. This speciality is found in almost all of his writings and the same is reflected in the pages of the present work.

The Parishad puts on record its deep sense of gratitude to Professor Tripathi for delivering these lectures under the auspices of the Parishad. I shall be failing in my duty if I do not acknowledge the keen interest evinced by Sri Vishwa Mohan Mehta and his young and energetic son, Mr. Manish Mehta, Proprietor of Pnar Offset. But for their co-operation, the lectures would not have seen the light of the day.

A. K. Kalia
Secretary

Kṛṣṇa-Janmāṣṭamī
30th August, 2002

स्फोटवाद

प्रो. राममूर्ति त्रिपाठी, उज्जैन

सामान्यतः व्यवहार में यह देखा जाता है कि नियतव्यक्ति को नियत समय पर नियत शब्द से नियत अर्थ की प्राप्ति अथवा बोध होता है। यह नियम क्यों हैं ? इस नियम का आधार क्या है ? क्या है वह जिससे यह नियम बनता है ? विचार करने पर प्रतीत होता है कि यह तत्त्व अर्थों से व्यवहार सिद्ध सम्बन्ध है जिसके कारण नियत शब्द ही नियत अर्थ नियत समय पर नियत व्यक्ति को प्रदान करता है। यह सम्बन्ध ही, अर्थ का शब्द से नियत सम्बन्ध ही, शब्द की शक्ति अथवा वृत्ति है– जिसके ज्ञात होने पर वह अपना कार्य करती है। शक्ति अज्ञात रहकर भी अपना कार्य करती है, जैसे अग्नि की दाहिका शक्ति अज्ञात रहकर भी अपना कार्य करती है– परन्तु शब्द और अर्थ के बीच जो सम्बन्ध रूप शक्ति अथवा वृत्ति है– वह ज्ञात होकर ही अपना काम करती है। यह सम्बन्धात्मा शक्तियाँ तो शास्त्रचिन्तकों के बीच अनेक प्रकार की कही गयी है– अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना आदि, किन्तु सर्ववादिसम्मत वृत्ति अथवा शक्ति अभिधा ही है– अतः इस सन्दर्भ में मूलतः उसी को केन्द्र में रखकर विचार किया जा रहा है। इस अभिधात्मक वृत्ति से जो अर्थ स्फुटित होता है वह शब्द कौन सा है ? क्या वह जो वक्ता के वाग्यन्त्र से समुच्चरित होता है और श्रोता के श्रोत्रयन्त्र से ग्रहीत उच्चरितप्रध्वंसी अनित्य शब्द अथवा कोई और ही है, जो ऐसा नहीं है– अर्थात् नित्य शब्द ? वैयाकरण मानते हैं कि पदार्थ बोधक वृत्ति का आश्रय श्रूयमाण शब्द नहीं है– अपितु नित्य शब्द है। ऐसा क्यों ? इसी पर आगे विचार किया जायेगा।

शब्द की नित्यता और अनित्यता के सम्बन्ध में शास्त्रकारों में मतभेद है और उस मतभेद का कारण सप्रयोजन है और प्रयोजन है– मानव जीवन की साक्षात् अथवा परम्परया सर्वोच्च उपलब्धि। उपलब्धव्य एक ही है– अधिकार–भेदवश मार्ग अवश्य भिन्न हैं और भिन्न–भिन्न मार्गों के प्रति साधक की अपनी आस्था को दृढ़ करने के लिए चिन्तन में मतभेद होता है। नैयायिक, बौद्ध, जैन और वैशेषिक शब्द को अनित्य मानते हैं। नैयायिक और वैशेषिक शब्द की आकाङ्क्षा का उत्पाद विनाशशील गुण मानते हैं, जैन भाषावर्णना के अन्तर्गत उसे पौद्गालिक स्वीकार करते हैं। बौद्ध चाहे उसे विज्ञानरूप माने अथवा असत् स्वभाव–क्षणिक हर हालत में कहेंगे। आस्तिकों में सांख्य और पातञ्जल के साथ वेदान्ती आहंकारिक तन्त्रमात्र से ही शब्द को अभिव्यक्त मानते हैं। इस प्रकार चाहे न्याय वैशेषिक की भाँति शब्द को उत्पन्न मानने वाले हों अथवा जैनों की भाँति पौद्गालिक और साङ्ख्य–पातञ्जल आदि की भाँति अभिव्यक्त–मीमांसक और वेदाङ्ग प्रमुख व्याकरण– उन सबसे अलग हटकर शब्द को नित्य

मानते हैं। इस मान्यता में मीमांसक और वैयाकरण सर्वथा पृथक् हैं। शब्द की नित्यता में एकमत होकर भी दोनों के बीच इस बात को लेकर मतभेद हैं कि नित्य शब्द आनुपूर्वीसहित वर्णसमुदायात्मक है– अर्थात् केवल वर्ण ही नित्य और विभु है अथवा पद और वाक्य भी आनुपूर्वीसहित वर्ण समुदाय से भिन्न रूप में नित्य। मीमांसक केवल **'वर्ण एव शब्दः' इति भगवान् उपवर्षः**– अर्थात् उपवर्ष के अनुसार केवल वर्ण को ही नित्य मानते हैं और आनुपूर्वी को व्यञ्जक ध्वनि से आरोपित औपाधिक। वैयाकरणों का पक्ष है कि वे मीमांसकों की भाँति वृत्ति का आश्रय वर्ण या वर्णसमुदाय को (तदात्मक पद वाक्य) नहीं मानते हैं, अपितु वर्ण, पद और वाक्य–सभी को वाचक मानते हैं। तत्त्वतः तो वे वाक्य की अपेक्षा वाक्यजाति के ही वाचक अर्थात् वृत्त्याश्रय और अखण्ड महासत्ता जाति (चरमतत्त्व) को ही वाक्य मानते हैं– पर अविधिक व्यवहार में वर्ण, पद, वाक्य को अखण्ड और विखण्ड रूप में भी व्यक्तिशः वृत्ति का आश्रय स्वीकार करते हैं। यही वर्ण, पद, वाक्य रूप नित्य शब्द की स्फोट संज्ञा से अभिहित किया जाता है। उसी से वृत्ति द्वारा अर्थ स्फुटित होता है, न कि वक्ता द्वारा उच्चार्यमाण और श्रोता द्वारा गृह्यमाण। कारण यह है कि इनकी अनुभव से विसंवादिता है। विसंवाद यह है कि अनुभव कहता है कि अर्थ प्रत्यापक वर्ण (प्रकृति–प्रत्यय) पद तथा वाक्य युगपत् अखण्डबुद्धि से निर्ग्राह्य हैं– जो उच्चरित प्रध्वंशी ध्वनियों में सम्भव नहीं है। अभिप्राय यह है कि वैयाकरण नित्यशब्द को स्फोट कहते हैं और मानते हैं कि बौद्ध स्तर पर उसका मानस–साक्षात्कार होता है।

इस अर्थ में वे स्फोट शब्द को योगरूढ़ मानकर करण और कर्म परक व्युत्पत्ति बताते हैं–

(1) स्फुटति अर्थोऽनेनेति स्फोटः

(2) स्फुट्यते व्यज्यते ध्वनिभिर्वर्णैर्वाऽसौ स्फोटः

अर्थात् जिससे जिस शब्द से अर्थ स्फुटित होता हो, उसे स्फोट कहते हैं अथवा जो श्रूयमाण ध्वनि या वर्णों से व्यङ्ग्य होता हो उस शब्द को स्फोट कहा जाता है– यह शब्द उच्चरित प्रध्वंशी नहीं, अपितु 'नित्य' है।

इस संदर्भ में चौथा बिन्दु यह आता है कि वैयाकरणों की इस परिकल्पना का कुछ आधार और इतिहास भी है अथवा यह निराधार स्वकल्पित है? व्याकरण जिस भेद का अंग अथवा मुख कहा जाता है उसका भी साक्ष्य है और साक्ष्य भी हो तो इतिहास में उसे किसी और ने भी रेखांकित किया है या नहीं। निष्कर्ष यह कि इसकी कोई ऐतिहासिक परम्परा है भी अथवा नहीं? मनीषियों ने इस सन्दर्भ में दो प्रश्न उठाये हैं– पहला यह है कि शब्द कितना पुराना है और इसका सर्वप्रथम संकेत कहाँ मिलता है? दूसरा यह कि शब्दतः न भी मिलता हो तो इस आशय के संकेत कहाँ से और कहाँ–कहाँ मिलते हैं–

(क) जहाँ तक **'स्फोट'** शब्द या संज्ञा की प्रयुक्ति का प्रश्न है इसका सर्वप्रथम प्रयोग **महाभाष्य** में मिलता है–

ध्वनिः स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते।
अल्पो महाँश्च केषांचिदुभये तत्स्वभावतः।।[1]

1. वार्तिक 5 महाभाष्य–पा. सू., 1.1.70

(ख) यहाँ प्रसंगतः यह भी स्थिर कर लेना चाहिये कि स्फोट शब्द का प्रयोग किन–किन रूपों में प्राप्त होता है और वह यहाँ किस अर्थ में विवेच्य है। प्रायः उसके तीन रूप विभक्त है–

(1) जब स्फोट शब्द ब्रह्म के रूप में लिया जाता है तब उसे उस मूल सत्ता के रूप में समझना चाहिए, जिससे जगत् का विवर्त होता है– जगत् (शब्दजगत् और अर्थजगत्) स्फुटित होता है। इस अर्थ में वह वैखरी वाक् का अनन्यथासिद्ध कारण नहीं है, जिसकी अव्यवहित क्रिया उच्चारण में उपयोगी होती है।

(2) उपहित चैतन्य अथवा द्रष्टा तत्त्व को भी **'स्फोट'** कहा जाता है। यह शब्द और अर्थ का असम्भिन्न ज्ञान है। यह व्यावहारिक जीव का नाम है। इसे वक्ता श्रोता के रूप में लिया जाता है। इस अर्थ में यहाँ **'स्फोट'** की विवेचना नहीं की जा रही है, इसका कारण यह है कि यहाँ शब्द, अर्थ और सम्बन्ध– सभी तिरोहित रहते हैं।

(3) बुद्धिवृत्ति से उपहित व्यष्टि चैतन्य का वह भाग स्फोट है जो नाद से व्यंग्य होता है। यही स्फोट शब्द है जो चैतन्य रूप स्फटिक शिला होते हुए भी वर्ण, पद, वाक्य से उपरक्त होकर अर्थबोध कराता है। यहाँ बुद्धिघात वश शब्दबिम्ब और अर्थविम्ब पृथक्–पृथक् बिम्बित होते हैं, जिससे अद्वैत दर्पण में शब्दजनित अर्थबोध आकार लेता है। प्रस्तुत सन्दर्भ में यही स्फोट विवेच्य है।

इस अर्थ में **महाभाष्य** में सर्वप्रथम **'स्फोट'** शब्द का प्रयोग है। **महाभाष्य** में यह प्रश्न उठाया गया है कि **गौरित्यत्र कः शब्दः ?...... येन ह्युच्चारितेन लाङ्गूलसास्नाखुरविषाणादिमदर्थः प्रतीयते**[2] ? उत्तर में उच्चरित प्रध्वंसी ध्वनियों (को भी व्यवहार में शब्द कहा जाता है पर यहाँ) से भिन्न नित्य शब्द के अर्थ में स्फोट शब्द का प्रयोग है। **काशिका, पदमञ्जरी** और नागेश भट्ट के तर्क के साक्ष्य पर इसे और पीछे ले जाया जाता है। आज से 2600 वर्ष पूर्व **'पाणिनि'** के **'अवङ् स्फोटायनस्य'** सूत्र का साक्ष्य देते हुए कहा जाता है कि इस वाद के आदि प्रवर्तक मुनि **स्फोटायन** हैं, जिनका अयन अथवा पारायण स्फोट ही है। **पाणिनि** के सूत्रों से भी नित्यशब्दात्मा स्फोट की सत्ता ध्वनित होती है– यद्यपि उन्होंने पृथक् से इस संज्ञा का प्रयोग नहीं किया है। उनके अनेक सूत्रों की संगति शब्द के नित्यतावाद में ही लगती है। **'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धः'** में **'सिद्धे'** का अर्थ नित्य ही है। **'इको यणचि'** तथा **'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य'**– सूत्रों में निर्दिष्ट वर्णों का पौर्वापर्य उच्चरित प्रध्वंशी ध्वनि में किस प्रकार सम्भव है ? इनके बाद संग्रहकार **व्याडि** का श्लोक भी इसी पक्ष की पुष्टि करता है–

शब्दार्थयोरसम्भेदे व्यवहारे पृथक् क्रिया।
यतः शब्दार्थयोस्तत्वमेकं तत् समवस्थितम्।।

निश्चय ही यह तादात्म्यापन्न शब्द **वैखरी** नहीं है। **व्याडि** और **पाणिनि** से भी पूर्व **यास्क** ने ऋचाओं की व्याख्या करते हुए इस तत्त्व की ओर संकेत किया था। **ऋग्वेद** की एक **ऋचा** है–

---

2. महाभाष्य, 1.1.1

ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः[3]

इसके सम्बन्ध में यास्क का कथन है कि **ऋचा** का अक्षर परमव्योम है, जिसमें सभी देवात्म शक्तियाँ स्थित हैं। यह अक्षर अक्षय है अथवा वाणी का अक्ष है। **यास्क** ने इसे ओंकारात्मा कहकर सृष्टिमूल निरूपित किया है। **माण्डूक्य उपनिषद्** में **ओंकार** अथवा प्रणवात्मा अक्षर को सृष्टि को उक्त कहा ही गया है। **दुर्गादत्त** ने उसे और स्फुट करते हुए कहा है कि **यास्क** जब शब्द को व्याप्तिमान् कहते हैं तब वह मानते हैं कि हृदयाकाश में शब्दबुद्धि और अर्थबुद्धि स्थित रहती है। इसी बुद्धि से मनुष्य प्रयत्न करता है, प्रयत्न से आघात होता है और आघात से शब्द अथवा वर्ण उच्चरित होता है। इससे निरुक्तकार का यह आशय स्पष्ट होता है कि वह शब्द को बुद्धि में व्याप्त मानता है। यही उच्चारण से पूर्व वक्ता में और श्रवण के बाद श्रोता में आकार ग्रहण करता है। यही बौद्ध शब्दाकार ही **स्फोट** का आधार है। **पाणिनि** अथवा **पतञ्जलि** से पूर्व **'स्फोट'** का जहाँ यह इतिहास है, वहीं तदनन्तर एक ओर जहाँ पौराणिक साहित्य **महाभारत** और **श्रीमद्भागवत** में भी चर्चा है वहीं दूसरी ओर **महाभाष्य** के टीकाकारों–**कैयट** और **नागेश**– के साथ उसकी दार्शनिक परिणति देने वाले **भर्तृहरि** (के **वाक्यपदीय**) तथा उसके टीकाकार **वृषभदेव**, **पुष्पराज** और **हेलाराज** ने भी इसका उपहण किया है।

महाभारत में कहा गया है कि बुद्धि के सात गुण हैं–

शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा।
ऊहापोहोऽर्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानञ्च धनीगुणाः।।[4]

इन सात सोपानों में शब्द की सत्ता बुद्धिविम्ब से भिन्न नहीं है। स्पष्ट ही यहाँ स्फोटपरक बौद्ध अर्थ की प्रक्रिया अपनायी गयी है।

श्रीमद्भागवत में कहा गया है–

शृणोति य इमं स्फोटं सूक्ष्मे श्रोत्रे च शून्यदृक्।
येन वाग्व्यज्यते यस्य व्यक्तिराकाश आत्मनः।।

इस सारी चर्चा को पूर्णता दी **भर्तृहरि** (5वीं) ने अपने **'वाक्यपदीय'** में। उनके गुरू ये **वक्षुरात**, जिनको श्रेय देते हुए उन्होंने कहा है– **'प्रगीतो गुरूणास्माकमयमागमसंग्रहः–**

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि
तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः
गुहा त्रीणि निहता नेङ्गयन्ति
तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।[5]
चत्वारि श्रृंगा त्रयोऽस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो बृषभो रोरवीति
महो देवो मर्त्यां आविवेश।।[6]

---

3. *ऋग्वेद*, 1.164.39
4. *महाभारत*, III.7.1 (cf *Pada Index*)
5. *ऋग्वेद*, 1.164.45
6. *वही*, 14.58.3

इस प्रकार स्फोटवाद परक इस व्याकरण परिचर्चा को खण्डन का विषय बनाया एक ओर नैगमिक धारा के **कुमारिल, आचार्य शङ्कर** तथा आगमिक **सोमानन्द** ने– क्रमशः **तन्त्रवार्तिक, शाङ्करभाष्य–शारीरक** तथा **शिवदृष्टि** में। तदनन्तर नैयायिकों में भी **जयन्तभट्ट** आदि से प्रवाद की धारा चल पड़ी। सातवीं से दसवीं शताब्दी के बीच इस समस्त परिचर्चा को दृष्टिगत करा **वाचस्पति** ने **'भामती'** में मध्यस्थता करते हुए कुमारिल का पक्ष लिया। तेरहवीं–चौदहवीं शताब्दी में सायण ने **सर्वदर्शनसंग्रह** में पाणिनीयदर्शन का तटस्थ उपस्थापन किया था। पन्द्रहवीं–सोलहवीं शताब्दी में नव्यवैयाकरण भट्टोजी दीक्षित ने शब्दकौस्तुभ तथा **वैयाकरणभूषणसार** की कारिका में समर्थन दिया और उनके भ्रातृज कौण्डभट्ट ने उसका पल्लवन किया। सत्रहवीं– अट्ठारहवीं शताब्दी में आगम और तन्त्र से प्रमाणित नागेशभट्ट ने **'लघुमञ्जूषा'** तथा **'स्फोटवाद'** में अपना पक्ष रखा। ऐसा प्रतीत होता है कि नव्यवैयाकरणों ने मीमांसकों के बीच **मण्डनमिश्र** की धारा पर ध्यान नहीं दिया जो मतानुयायी ऋषि पुत्र परमेश्वर द्वारा उपबृंहित हुई थी। इन्होंने वाचस्पति के **तत्त्वबिन्दु** पर **तत्त्वविभावना** और स्फोटसिद्धि पर **गोपालिका** टीका लिखी थी।

इस ऐतिहासिक चर्चा से यह स्पष्ट है कि ऋग्वेद से लेकर नागेश तक स्फोट के प्रमुख बिन्दुओं को लेकर **शब्दब्रह्मवाद** का **ब्रह्मसूत्र** में उपस्थापित **परब्रह्मवाद** के समानान्तर चर्चा चलती रही। **मैत्रायणी उपनिषद्** ने इसका समन्वय भी कर दिया था।

शब्द ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्मधिगच्छति।

सम्प्रति स्फोटात्मक शब्द, जिससे अर्थ-प्रतीति होती है उसकी ग्रहण प्रक्रिया क्या है, उसका मानस प्रत्यक्ष किस प्रकार होता है– यह द्रष्टव्य है। इतना तो निश्चित है कि वह श्रावणप्रत्यक्ष का विषय नहीं है। श्रावणप्रत्यक्ष का विषय शब्द का जो रूप है उसे **वैखरी वाक्** कहा गया है। **वैखरी** वाक् की सार्थकता स्फोटावाद शब्द के प्रकाशन में है, उसमें स्वयम् अर्थनिरूपित वृत्ति की स्थिति नहीं है। इसका कारण यह है कि श्रावणप्रत्यक्ष गोचर शब्द में अनुभवसिद्ध तीन बातें नहीं मिलती है। अनुभव करता है– पहला यह है कि मैंने एक वर्ण, एक पद या एक वाक्य का प्रत्यक्ष किया; दूसरा यह कि उच्चारणभेद से भिन्न–भिन्न रूपों में प्रतीत न होकर वहीं पर प्रत्यक्षगोचर हो रहा है– यह प्रत्यभिज्ञा है। तीसरा यह है कि जिस वर्ण, पद या वाक्य का प्रत्यक्ष और प्रत्यभिज्ञा होती है– वह इदन्तया पुरावर्ती रूप में निर्दिष्ट होता है। इस प्रकार के अनुभव की संगति न तो न्यायसम्मत प्रक्रिया में सम्भव है और न ही मीमांसासम्मत प्रक्रिया में। कारण यह है कि न्यायसम्मत प्रक्रिया में पूर्व–पूर्व वर्णानुभवजन्य संस्कारसहकृत चरमवर्ण के प्रत्यक्ष से यदि समूहालम्बनात्मक एक ज्ञान मान लिया जाये जिसमें स्मृति और प्रत्यक्ष दोनों सम्मिलित है तों इसमें कई आपत्तियाँ उठ खड़ी होंगी। पहली तो यह कि यह प्रक्रिया अपनी समग्रता में प्रत्यक्ष नहीं है– दूसरे उच्चारणभेद से भिन्न एक ही पद की एकत्वावगाहिनी प्रत्यभिज्ञा नहीं बनेगी। तीसरे यह कि स्मर्यमाण अंश में **सरो–रसः** जैसा विपर्यय भी सम्भव है। मीमांसा में भी वर्ण नित्य है– किन्तु व्यवहार दशा की आनुपूर्वी अनित्य है। अतः जो आपत्तियाँ आनुपूर्वी की अनित्यता में न्याय में है वही यहाँ भी हैं। इसलिए आनुपूर्वी विशिष्ट वर्ण जिसमें प्रत्यय का समावेश है, पद तथा वाक्य को नित्य कहना पड़ेगा और इसी रूप में उसका ग्रहण भी करना पड़ेगा।

अब इस ग्रहण की प्रक्रिया पर विचार करना आवश्यक है। इस विषय में **वाक्यपदीय** की एक कारिका है।

स्फोटरूपाविभागेन ध्वनेर्ग्रहगमिष्यते।
कैश्चिद्ध्वनिरसंवेद्यः स्वतन्त्रोऽन्यैः प्रकाशकः।।[7]

इसमें स्फोटात्मा अर्थ प्रकाशक शब्द के मानस साक्षात्कार की विभिन्न प्रक्रियाओं का उपक्षेप है। यहाँ कुल चार पक्ष हैं। एक पक्ष कहता है कि यद्यपि ध्वनि प्रकाशक है और स्फोट प्रकाश्य–तथापि जिस प्रकार दीप का प्रकाश और उसके प्रकाश्य पदार्थ का अविभागेन ग्रहण होता है उसी प्रकार व्यञ्जक ध्वनि और व्यंग्य स्फोट दोनों का साथ ही ग्रहण होता है। दूसरा पक्ष कहता है कि प्रकाश्क और प्रकाश्य में पौर्वापर्य है, किन्तु प्रकाश्य स्फोट से प्रकाशक ध्वनि की सत्ता अनुमेय है, श्रावणप्रत्यक्ष गोचर नहीं है। तीसरा पक्ष कहता है कि ध्वनि का श्रावण प्रत्यक्ष होता है और **स्फोट** का मानस प्रत्यक्ष होता है ओर पौर्वापर्य भी दोनों में है। चौथा पक्ष चतुर्थ चरण की ही अन्यथा व्याख्या करते हुए कहता है कि ध्वनि और स्फोट अविभागशः नहीं प्रकाशित होते हैं, किन्तु स्वतंत्र या विभक्त रूप से ध्वनि स्फोट का प्रकाशक है– परन्तु ध्वनि श्रावण प्रत्यक्ष का विषय है और स्फोट अनुमेय है। इन चार व्याख्याओं में से प्रामाणिक व्याख्या **नागेशभट्ट** की दृष्टि में तीसरी ही है। वेदान्त मत में माना जाता है कि अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य जीव है। यही मध्यमा वाक् का त्रिदंश है, यही स्फोट है, इसी पर श्रावण प्रत्यक्षगोचरीभूत ध्वनि का प्रतिबिम्ब पड़ता है, जिससे वह तद्रूपरूषित हो जाता है और मनसा अखण्ड एकत्वबुद्धि से गृहीत होता है। अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य का इसी रूप में ध्वनिरूपरूपित रूप में ग्रहण ही स्फोट कहा जाता है। वही व्यक्त होकर शब्दाकार में, व्यक्त होकर अर्थाकार में रूपान्तरित होता है और अर्थ को स्फुट करता है। इस दृष्टि से स्फोट शब्दाकार त्रिदंश है। यह **परा** का विवर्त है और **पश्यन्ती** का परिणाम। **पाणिनि** ने **'चित्तवृत्तिनित्यम्'**[8] सूत्र द्वारा यह कहना चाहा है कि चित्तवान् जीव चित्त के द्वारा ही स्फोट जैसे नित्य शब्द का ग्रहण करता है। यह व्यक्त करना अभीष्ट न होता तो 'जीव' इतना ही कहना पर्याप्त होता। **नागेशभट्ट** ने भी **'चत्वारि श्रृगा–'** की व्याख्या में कहा है **'तदग्रहणन्तु मनसा'** अर्थात् ध्वनि का श्रावण प्रत्यक्ष होता है और तद्रूपरूपित चैतन्य का बुद्धिवृत्यवच्छिन्न चैतन्य का मानस प्रत्यक्ष होता है।

नागेश का मत ग्रहण प्रक्रिया पर उत्तम प्रकाश डालता है। इस मत में माना गया है कि पूर्व–पूर्व वर्णानुभव–जन्य संस्कार सहकृत चरमवर्ण का प्रत्यक्ष स्फोटात्मा शब्द का व्यञ्जक होता है। प्रश्न किया जा सकता है कि इस मत में भी व्यञ्जक ध्वनि में स्मर्यमाण और प्रत्यक्ष दोनों की सम्मिलित व्यञ्जकता है फिर अनुभव और स्मरण में विपर्यय की सम्भावना उत्पत्तिवादियों और अभिव्यक्तिवादियों की भाँति यहाँ भी है। इसका उत्तर यह दिया जाता है कि ध्वन्यात्मक शब्द अथवा पद का घटक प्रत्येक वर्ण उत्तरोत्तर स्फोटात्मक शब्द का शनैः शनैः स्फुट स्फुटतर तथा स्फुटतम रूप से प्रकाशक है। मान लीजिए वक्ता ने **'कमल'** शब्द का उच्चारण किया। इन उच्चरित प्रध्वंशी **'क' 'म' 'ज'** में से प्रत्येक श्रूयमाण काल में ही **स्फोट** का प्रकाशक हो जाता है– शनैः शनैः **स्फोट** पर तीव्र तीव्रतर तीव्रतम प्रकाश डालकर उसे मानसग्राह्य बना दिया

7. वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, 81

8 अष्टाध्यायी, 5.1.89

जाता है। **'क'** कहने से वह स्फोटात्मक शब्द स्फुट 'म' से स्फुटतर और 'ल' से स्फुटतमरूप में ग्राह्य हो जाता है। **कमल** का उच्चरित ककारांश श्रोताओं से 'क' से अनारब्ध पदों की व्यावृत्ति कर देता है। **'कम'** श्रुतिगोचर होने पर तद्घाटैततर की व्यावृत्ति कर देता है और अन्ततः पूरे **'कमल'** का श्रवण प्रत्यक्ष होने पर सम्पूर्ण स्फोटात्मक शब्द का एक अखण्ड पद रूप में साक्षात्कार मानस साक्षात्कार हो जाता है। इस प्रकार नैयायिक और मीमांसकों के पक्षों में जो आपत्तियाँ अथवा न्यूनता आती है उनकी निवृत्ति हो जाती है।'

अन्यत्र शिक्षा ग्रन्थों में भी कहा गया है–

आत्मा बुद्धया समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनःकायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारूतम्।।
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रामापद्यमारूतम्।
वर्णान् जनयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः।।

अर्थात् आत्मा अन्तःकरण संस्काररूप से स्वगत अर्थों को एक बुद्धि विषय बनाकर उसकी विवक्षा से मन से योग कराता है। अर्थबोध कराने की इच्छा से मन कायाग्नि को आहत करता है। वह कायाग्नि वायु को प्रेरित करती है और वही प्रेरित वायु ऊपर की ओर जाती है। ऊपर जाकर मूर्धा से टकराकर नीचे की ओर जाती है। और वाग्यन्त्र में जाकर स्थान–प्रयत्नवश भिन्न–भिन्न **वैखरी** वर्णों के आकार में व्यक्त होती है।

अन्यत्र भी कहा गया है कि यह स्फोटात्मक शब्द है क्या ? वाक् चार प्रकार की है– **परा, पश्यन्ती, मध्यमा** और **वैखरी**। मूलाधारस्थित पवन से संस्कृत होकर मूलाधार में रहने वाली शब्दब्रह्मरूपा स्पन्दशून्या बिन्दुरूपिणी परा वाक् है। वही वायु नाभिपर्यन्त आकर जिस मनोगोचरीभूत तथा प्रतिसंहृतक्रमा स्पन्दात्मिका वाक् को व्यक्त करती है वह **पश्यन्ती** है। इनमें से पहली निर्विकल्पक समाधि का और दूसरी योगियों के सविकल्पक समाधि का विषय बनती है। वही वायु हृदयपर्यन्त आकर जिस वाग्रूप को व्यक्त करती है वह मध्यमा कही जाती है। यही तत्तदर्थवाचक **स्फोट** रूप है जो श्रोत का विषय नहीं है, परश्रवणगोचर नहीं है। इसका ज्ञान उपांशु और परमोपांशु जप में होता है। चिन्तन में यही वाक् है। यह अन्तःसञ्जल्प रूप है। वही वायु आस्यपर्यन्त आकर मूर्धा से टकराती है और तत्तत् स्थानों में व्यक्त होकर जब परश्रवणगोचर होती है तब वैखरी कही जाती है। इसीलिए कहा गया है कि–

परा वाक् मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभिसंस्थिता।
हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा।
वैखर्या हि कृतो नादः परश्रवणोचरः।
मध्यमया कृतो नादः स्फोटव्यञ्जक उच्यते।।

मध्यमानाद व्यङ्ग्य शब्द स्फोटात्मा ब्रह्मरूप और नित्य है। इसी लिए **भर्तृहरि** ने कहा है–

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थमानेन प्रक्रिया जगतो यतः।।

वह स्फोट यद्यपि एक और अखण्ड है तथापि व्यञ्जक वर्ण, पद और वाक्य से रूषित होकर भिन्न–भिन्न रूप में व्यञ्जित होता है। ठीक उसी प्रकार जैसे जपाकुसुम आदि रंगबिरंगे पुष्पों से उपरञ्जित स्फटिक मणि भिन्न–भिन्न रूपों में परिगृहीत होता रहता है।

वैयाकरणों ने शब्द दो प्रकार के माने हैं– नित्यशब्द और अनित्यशब्द। अनित्यशब्द वैखरी है, जो परश्रवणगोचर और उच्चरित प्रध्वंसी है। यही बुद्धि में प्राप्त नित्य शब्द स्फोटात्मक शब्द का व्यञ्जक है। व्यञ्जक ध्वनि से प्रकाश्य हृदयदशावच्छेदेन प्रकाश्य स्फोटात्मक शब्द, वर्ण, पद तथा वाक्य रूप है। वर्ण से तात्पर्य यहाँ पद के अवयव प्रकृति तथा प्रत्यय से है। प्रश्न यह है कि वाचकता अथवा पदार्थनिरूपित वृत्ति की आश्रयता किसमें है। इस विषय में वैयाकरण परमार्थतः वाक्य जातिस्फोट को अखण्ड वाचक और महासत्ता रूप चैतन्य जाति को उसका वाचक मानते हैं, परन्तु अनुभवानुरोध से व्यवहार के स्तर पर कुछ लोग व्यक्तिशः वर्ण, पद तथा वाक्य को अखण्ड अथवा सखण्ड रूप में वाचक मानते हैं और कुछ का कहना है कि एक शब्दतावच्छेदक रूपजाति सभी शब्दों का अनुगमक होती है। उसी प्रकार शब्दतावच्छेदक रूप जाति भी व्यष्टिशः वर्ण, पद तथा वाक्य का अनुगमक है। एक वर्णत्व को वाचक या वर्णत्वव्याप्य जातियों को वाचक मान लें तो वह जिन वर्णव्याप्य में अनुगत होगी सभी का बोध करा सकेगी।

व्यक्तिपक्ष—वर्णव्यक्ति स्फोटवादी कहते हैं कि प्रयोग में उपलब्ध सभी वर्ण अपनी विशिष्ट आनुपूर्वी में सन्निविष्ट होकर अर्थ का बोध कराते हैं। कितने वर्ण किस क्रम में सम्मिलित होकर वाचक बनते हैं यह व्यवहार अथवा प्रयोग बनायेगा। जो आचार्य प्रकृति और प्रत्यय का ठीक–ठीक विभाजन कर लेते हैं वे प्रत्येक को वाचक मानते हैं, पर जब हम यह मानते हैं कि प्रातिपदिक और प्रत्यय अथवा धातु और प्रत्यय का विभाजन करने में असमर्थ हैं तब समस्त पद को ही वाचक माना जाना चाहिए। उनका पक्ष है कि प्रातिपदिक और प्रत्यय स्वतन्त्र निरर्थक हैं– वे मिलकर ही पद रूप में वाचक हैं। जहाँ प्रकृति और प्रत्यय विकारग्रस्त होकर ऐसे रूप में आ गये हों कि उनमें प्रकृति–प्रत्यय का पृथक्करण कठिन हो यहाँ क्या पृथक्करण हो? उदाहरण के लिए रामम् है राम् + अम् अथवा राम + म्। विनिगमनाभावात् कुछ कहना कठिन है। एकादेश पूर्वान्तगत् भी होता है और पदादिगत भी। अतः वर्णव्यक्ति को वाचक न मानकर पद को ही वाचक माना जाना चाहिए।

इस प्रकार 'दधीदम्', 'हरेऽव' 'रामागच्छ' इत्यादि में भी यही प्रश्न उठता है कि यहाँ पृथक्करण कैसे करें– क्या दधी + दम करें अथवा दध् + ईदम् करें। किसी भी रूप में वाचकता नहीं बनेगी– अतः वाक्य व्यक्ति को ही वाचक मानना चाहिए। फिर जहाँ निर्विवाद पृथक्करण सम्भव हो (कार् + अक) वहाँ सखण्ड व्यष्टियों की और जहाँ सम्भव न हो अथवा एकरूपता की दृष्टि से सभी अखण्ड रूप को ही वाचक माना जाना चाहिये।

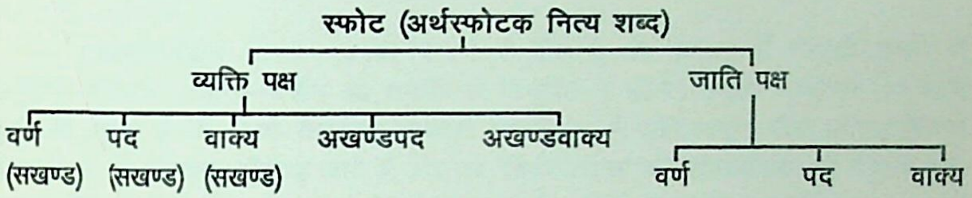
निष्कर्ष– (1)पद और वाक्य वर्णातिरिक्त स्वतन्त्र अविभाज्य इकाई हैं– वे आनुपूर्वी विशिष्ट वर्णसमुदाय नहीं है।

(2) वर्ण व्यञ्जक है, पद और वाक्य के व्यङ्ग्य पद और वाक्य भावात्मक पदार्थान्तर है।

(3) पद अथवा वाक्य की एकता की प्रतीति प्रामाणिक है।

(4) वर्ण, पद, वाक्य रूप व्यङ्ग्य स्फोट व्यक्तिगत इकाइयों के रूप में अनन्त है।

जातिपक्ष– उच्चारण भेद और वक्तृभेद से **'घट'** जैसा स्फोटात्मक शब्द अनन्त है। शक्ति किसमें मानी जाये ? अतः माना जाता है कि शब्दतावच्छेदक घटत्व की भाँति शब्दतावच्छेदक घटत्व जाति में यदि शक्ति मान ली जाये तो तदनुगत सभी **'घट'** व्यक्तियों की वाचकता सिद्ध हो जायेगी। यही बात वाक्य पक्ष में भी है। इस प्रकार स्फोट के (वाचक दृष्टि से) कुल सात भेद हुए–



■ ■ ■

स्फोट और ध्वनि सिद्धान्त

आनन्दवर्द्धन भारतीय काव्य-चिन्तन के क्षेत्र में वह प्रतिमा हैं जिनके अभाव में साहित्य–चिन्तन साहित्य–दर्शन की उपाधि से विभूषित न होता। इनकी गम्भीरता का ज्ञान इसी से चलता है कि इनके वैचारिक आकाश के आलोक में अभिनवगुप्त जैसे प्रतिभा वैविध्य के धनी के भी **'लोचन'** चौंधिया जाते हैं और तब **'दिव्याञ्जना'** की आवश्यकता का अनुभव होने लगता है। तब भी कुछ न कुछ शेष रह ही जाता है– जिसे अद्यावधि शास्त्रचिन्तक अनावृत करते जा रहे हैं। **आनन्दवर्द्धन** ने वैयाकरणों का स्मरण बड़ी आदर बुद्धि से किया है और अनेकत्र किया है। उन्होंने कहा है– **'प्रथमे विद्वांसो हि वैयाकरणाः–व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्'**। इसी प्रकार उन्होंने वैयाकरणों को कहीं **'बुधैः'** और कहीं **'सूरिभिः'** जैसे महनीय शब्दों से स्मरण किया है। इन सबसे वैयाकरणों में आनन्दवर्द्धन की अगाध आस्था व्यक्त होती है। उन्हें अपने द्वारा स्थापित ध्वनि सिद्धान्त की प्रेरणा वैयाकरणों से ही मिली थी। **'ध्वनि'** संज्ञा व्याकरण शास्त्र से ही मिली है। ये वैयाकरण ही हैं जिन्होंने **'शब्द'** शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया है– उच्चरित–प्रध्वंसी ध्वनि और उससे प्रकाश्य स्फोट। पहला अनित्य है और दूसरा नित्य। पर यह नित्यता **'त्रिकालावाधित'** रूप वाली (नित्यता) नहीं है, अपितु **'यावत्स्टष्टि कालस्थायित्व'** रूप नित्यता है। निष्कर्ष यह है कि **'ध्वनि'** संज्ञा उधार तो व्याकरण शास्त्र से ही ली गयी है– किन्तु यहाँ उसकी प्रतिष्ठा किसी और रूप में है। व्याकरण शास्त्र की **'ध्वनि' स्फोट** रूप व्यंग्य का व्यञ्जक है– प्रकृत में भी वह व्यञ्जक रूप में ही गृहीत हुआ है, किन्तु यहाँ उसका व्यंग्य अर्थ प्रसिद्धार्थातिरिक्त अर्थ है– चारूता। वह अतिरिक्त अर्थ का प्रकाशक होने के कारण व्यञ्जक शब्द की **ध्वनि** संज्ञा व्यञ्जकत्व साम्यवश दी गयी है। **काव्यप्रकाश-कार मम्मट** ने कहा है– **व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तम्**।

आनन्दवर्द्धन की मूल कारिका में काव्यविशेष के अर्थ में **'ध्वनि'** संज्ञा का प्रयोग **'ध्वन्यत अस्मिन् इति ध्वनिः'** व्युत्पत्ति से किया गया है। **'ध्वनि'** शब्द का प्रयोग व्यञ्जक शब्द और **'काव्यविशेष'** के ही लिए नहीं किया गया है, प्रत्युत व्यङ्ग्य अर्थ और व्यञ्जना व्यापार के अर्थ में भी हुआ है। **काव्यविशेष** से भिन्न **'व्यञ्जक शब्दार्थ'**, **'व्यङ्ग्य अर्थ'** तथा **'व्यञ्जनाव्यापार'** के लिए ध्वनि संज्ञा के प्रयोग की पुष्टि लोचनकार ने **'लोचन'** में की है। वृत्तिग्रन्थ में भी कहा गया है कि वैयाकरण मानते हैं कि **वीची–सन्तान** न्याय से कर्ण देश को प्राप्त शब्दज शब्दों को ध्वनि कहा जाता है। इसलिए जिस प्रकार घण्टानुरणन होता रहता है– घण्टे पर चोट देने से ध्वनि पर ध्वनि का प्रवाह चलता रहता है, उसी प्रकार शक्त कवि द्वारा प्रयुक्त समर्थ शब्द से प्रातिभ टकराहट होने से अर्थ से अर्थ की परतें निकलती रहती हैं। अतः अनुरणन न्याय से प्राप्त होने वाले व्यङ्ग्य अर्थों के लिए भी ध्वनि शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। यह नहीं

समझना चाहिए कि अनुरणन न्याय से वस्तुध्वनि या अलंकार ध्वनि ही प्राप्त हो सकती है, रस ध्वनि नहीं। अतः उसका संग्रह नहीं हो सकता। उपलक्षण से उसका भी ग्रहण हो सकता है। ध्वनि के ये भेद उपलक्षण हैं– शेष प्रकार के। भगवान् **भर्तृहरि** ने कहा है–

यः संयोगवियोगाभ्यां करणैरूपजन्यते।
स स्फोटः शब्दजाश्शब्दाः ध्वनयोऽन्यैरूदाहृताः।।[1]

वास्तव में यह पद्य उत्पत्ति पक्ष में स्फोट और ध्वनि का अन्तर स्पष्ट करने के उद्देश्य से कहा गया है। यह प्रक्रिया वैशेषिकों की है। उन लोगों ने करणों से, तत्तत्स्थानों के संयोग–वियोग से जो उत्पन्न होता है वह स्फोट है और तदनन्तर अनुरणन न्याय से जो एक ध्वनि–तरंग से दूसरी ध्वनि–तरंग उत्पन्न होती है वह शब्दज शब्द ध्वनि है। इस साम्य पर **'व्यज्यते ध्वन्यतेऽसौ ध्वनिः'** इस व्युत्पत्ति से व्यङ्ग्य अर्थ को उपलक्षण बनाकर सभी प्रकार के व्यङ्ग्यार्थों का समावेश कर लिया गया है।

व्यंजक– 'शब्द और अर्थ' को भी ध्वनि साम्यवश कहा जा सकता है। लोचनकार का कहना है कि **'अन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यस्फोट'** के व्यञ्जक श्रूयमाण वर्णों को व्याकरण शास्त्र में नाद शब्द से अभिहित किया जाता है। उस नाद को भी ध्वनि कहा जाता है। **भर्तृहरि** ने यहाँ भी कहा है–

प्रत्ययैरनुपारव्येयैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा।
ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते।।[2]

अर्थात् ध्वनि से प्रकाशित स्फोटात्मक शब्द के विषय में उसके ग्रहण के अनुरूप इदमित्थम् रूप से अनुपाख्य (अव्यक्तव्य) कतिपय प्रत्ययों से स्फोट का स्वरूप व्यक्त हो जाता है। **महाभाष्य-कार** ने भी कहा है– **'व्यक्तरूपग्रहणानुगुणा ह्यनुपाख्येयाकारा बहव उपायभूता प्रत्यया ध्वनिभिः प्रकाश्यमाने शब्दे उत्पद्यमानः शब्दस्वरूपावग्रहे हेतवो भवन्ति–इति।'** ध्वनि श्रवण और स्फोटात्मक शब्द की व्यक्ति–दोनों के बीच इदमित्थं रूप से अवक्तव्य कुछ प्रत्यय हेता है। उनसे **स्फोट** अन्ततः व्यक्त हो जाता है। यहाँ **स्फोट** व्यञ्जक ध्वनि के साम्यवश व्यञ्जक शब्दार्थ को भी **'ध्वनि'** कह दिया गया है।

अब व्यापार–व्यञ्जन या ध्वनन व्यापार–के लिए ध्वनि संज्ञा का प्रयोग क्यों किया जाता है– इस विषय में परम्परा का साक्ष्य देते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने कहा है कि **'श्लोकवार्तिक'** के **स्फोट** ग्रन्थ में एक कारिका है–

अल्पीयसापि यत्नेन शब्दमुच्चारितं मतिः।
यदि वा नैव गृह्णाति वर्णं वा सकलं स्फुटम्।।[3]

अर्थात् वक्ता द्वारा हल्के प्रयत्न से भी उच्चारित निरवयव वर्ण को श्रोता की बुद्धि या

---

1. वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड - 102
2. वही, 84
3. ध्वन्यालोक, 1.13 (लोचन टीका)

तो पूर्णतः ग्रहण कर लेती है या बिल्कुल ग्रहण नहीं करती है। वर्ण निरवयव हैं, अतः वे गृहीत होंगे तो पूर्णरूप से और नहीं गृहीत होंगे तो भी पूर्ण रूप से। यत्नानुरूप वर्णों के श्रुतिगोचर होने और उससे वर्ण **स्फोट** के ग्रहण किये जाने के पश्चात् भी यदि उच्चारयिता उच्चारित वर्णों को **द्रुत, विलम्बित** अथवा **मन्द** वृत्ति में रखता है तो उसका यह व्यापार प्रसिद्ध उच्चारण व्यापार से अतिरिक्त है। उसका प्रकृत **स्फोट** ग्रहण में कोई उपयोग नहीं है। **भर्तृहरि** का कथन है कि–

शब्दस्योर्द्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदे तु वैकृताः।
ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते।।[4]

इसे यों समझा जाये कि ध्वनि दो प्रकार की है– प्राकृत और वैकृत। प्रकृति से अर्थात् अर्थबोध कराने की इच्छा से स्वभाव से ही उत्पन्न **स्फोट** की व्यञ्जक पहली ध्वनि प्राकृत कही जाती है। उस प्राकृत ध्वनि से उत्पन्न विकार विशिष्ट देर तक ठहरने वाली निवर्तक ध्वनि वैकृत ध्वनि है। **भर्तृहरि** ने कहा है–

शब्दस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते।[5]

स्फोट के ग्रहण अर्थात् प्रकाशन में जो ध्वनि इष्ट है– वह प्राकृत ध्वनि है। शब्द से उच्चारण के बाद व्यापार–भेद से जो ध्वनि निकलती है– वह वैकृत ध्वनि है, स्फोटात्मक शब्द में उससे कोई भेद नहीं आता है। यह व्यापार अथवा वृत्ति तीन प्रकार की है–**द्रुत, विलम्बित** और **मध्य**। अभ्यास करने में **द्रुत**, चिन्तन में **मध्य** तथा छात्रों के उपदेश काल में **विलम्बित** वृत्ति उपयोगी है। स्फोट की अभिव्यक्ति के अनन्तर चलती हुई ध्वनिपरक वृत्ति स्फोट व्यक्ति के निमित्त की जाने वाली अथवा श्रुतिगोचर होने वाली ध्वनि व्यापार से अतिरिक्त है, किन्तु यह वैकृत ध्वनि है। इस प्रकार **अभिधा, लक्षणा** तथा **तात्पर्या रूप** प्रसिद्ध शब्दव्यापार से भिन्न ध्वनिवादियों ने भी एक अतिरिक्त व्यापार माना है और उसे 'ध्वनि' संज्ञा दी है।

इस व्यञ्जक, व्यङ्ग्य और व्यञ्जना की जिस काव्य में समवस्थिति रहती है, उसे भी ध्वनि काव्य कहा जाता है। इसलिए मूल ग्रन्थ में एकत्र कहा गया है– **'काव्यस्यात्मा ध्वनिः'**– अर्थात् काव्य और आत्मभूत ध्वनि में भेद है और अन्यत्र कहा गया है कि **'काव्यविशेषः स ध्वनिः'**– अर्थात् काव्य ही ध्वनि है– इससे कोई असङ्गति नहीं आती है। इन्हीं सब अभिप्रायों को लेकर वृत्तिकार ने कहा है–

तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिः वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यम्– इति व्यपदेश्यः व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः।[6]– अर्थात् जिस प्रकार वैयाकरणों ने श्रूयमाण व्यञ्जक शब्द को ध्वनि संज्ञा दी है, उसी प्रकार उसके मत का अनुसरण करने वाले काव्यतत्वार्थदर्शी सूरियों ने भी व्यञ्जकत्व साम्यवश व्यञ्जक (व्यङ्ग्यार्थ–अतिरिक्त अर्थ प्रकाशक) शब्द को ध्वनि कहा है। अभिप्राय चाहे वाच्यवाचक हो, विभावानुभावाभिसंबलित व्यङ्ग्यार्थ हो, आत्मभूत शब्दज व्यापार हो अथवा आधारभूत काव्य हो, सभी व्यञ्जकत्व साम्यवश ध्वनि पद से

---

4. वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, 77
5. वही, वृत्ति, पृ. 131
6. ध्वन्यालोक, वृत्ति

अभिहित किये जा सकते हैं। वाच्य–वाचक सम्मिश्र में मध्यमपदलोपी समास है– वाच्यवाचक सम्मिश्र का अर्थ है– व्यञ्जक रूप वाच्यवाचक सहित सम्मिश्र अर्थात् विभावादि संवलित व्यङ्ग्य अर्थ। इस प्रकार सम्पिण्डित रूप से सबका अभिप्राय इस प्रकार है–

(1) **ध्वनतीति–ध्वनिः** – व्यञ्जक वाच्यवाचक।

(2) **ध्वन्यतेऽसौ ध्वनिः – व्यङ्ग्य सम्मिश्र अर्थ।**

(3) **ध्वननं (शब्दज) ध्वनिः** – शब्द व्यापार ध्वनन।

(4) **ध्वन्यतेऽस्मिन् – ध्वनिः** – काव्यविशेष।

इस 'ध्वनि' तत्त्व के विरोधी भी हो सकते हैं। ग्रन्थकार ने पूर्ववर्ती विरोधियों की सम्भावना की है। सम्भावना सम्भव की होती है। अतः स्वयं पूर्ववर्ती आलङ्कारिकों ने चाहे यह सब न कहा हो किन्तु उनकी ओर से कुछ सम्भावनायें की जा सकती हैं। इस प्रकार वृत्तिकार ने विरोधियों के कुल तीन पक्ष रखे हैं– **अभाववाद, भक्तिवाद** और **अनाख्येयवाद।**

(1) अभाववाद– इस पक्ष वालों का कथन है कि ध्वनि नाम की कोई अतिरिक्त वस्तु जो अद्यावधि अचर्चित रही हो– है ही नहीं। इन अभाववादियों में भी कई विकल्प सम्भव हैं।

(क) प्रथम विकल्प– शब्द अर्थ का प्रतिपादन समय अथवा संकेत–सापेक्ष होकर करता है, संकेत–निरपेक्ष होकर नहीं। शब्द का शक्ति ग्राहक स्रोतों द्वारा जिस अर्थ में संकेतित होता है– वह अर्थ–वाच्य कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि जिस वाच्यातिरिक्त अर्थ को लेकर आप 'ध्वनि' संज्ञा का प्रयोग करना चाहते हैं वह शब्द का अर्थ है ही नहीं। इसलिए ध्वनि नाम की कोई वस्तु हो ही नहीं सकती है।

(ख) द्वितीय विकल्प– शब्दार्थ अथवा उक्ति का व्यवहार लोक में भी होता है और व्यवहार में भी, किन्तु काव्य में जिस शब्दार्थ का प्रयोग होता है वह उन दोनों की अपेक्षा **सुन्दर** होता है। अभिप्राय यह है कि **सुन्दर शब्दार्थमय** ही काव्य होता है। सौन्दर्य अथवा चारुता या तो शब्दार्थस्वरूप में होगी या शब्दार्थ सङ्घटना में। स्वरूप में सौन्दर्य का स्रोत अलङ्कार है और सङ्घटना में गुण। अलङ्कार और गुण ही सौन्दर्य स्रोत रूप में प्रतिष्ठित हैं। इनके अतिरिक्त कोई अन्य तत्त्व है ही नहीं। अतः काव्यगत चारुता के स्रोत रूप में ध्वनि नामक कोई अतिरिक्त तत्त्व नहीं है। ऐसा कोई सौन्दर्य स्रोत है ही नहीं जिसकी परिगणना पूर्ववर्ती आचार्यों ने न की हो और जिनकी गणना उन्होंने न की हो– वे चारुता के स्रोत हैं ही नहीं। फलतः किसी पूर्व परिगणित चारुता स्रोत (गुण–अलङ्कार) से अतिरिक्त तत्त्व सौन्दर्य स्रोत के रूप में हो ही नहीं सकता है और हो भी तो भी वह इन्हीं में अन्तर्भुक्त है।

(ग) तृतीय विकल्प– तीसरी बात यह है कि यदि परिगणित सौन्दर्य स्रोत से भिन्न कोई तत्त्व होता तो जो इतने सूक्ष्म मति–सम्पन्न आचार्य हो चुके हैं उनमें से कोई तो उसका उल्लेख करता और यदि किया होता तो परम्परा में प्रसिद्धि होती। प्रसिद्धि के अभाव में ऐसे किसी भी अतिरिक्त तत्त्व को नहीं स्वीकार किया जा सकता है।

(घ) चतुर्थ विकल्प– मान भी लिया जाय कि यह ध्वनि तत्त्व पूर्व परिगणित प्रसिद्ध चारूता स्रोतों में परिगणित नहीं है– उसका यह नया भेद है– तो इस विशेष लेश को लेकर इतना शोर मचाना, अज्ञातरत्न की भाँति इसकी उद्‌भावना के मुकुलितलोचन हो पुलक का अनुभव करना समझ में नहीं आता है। अनेक पूर्ववर्ती आचार्यों ने गुणालङ्कारों के बहुत से भेद निकाले हैं, किन्तु ऐसी मुद्रा और प्रसिद्धि कहीं न देखी और न कहीं सुनी। **भरत** ने **उपमा, रूपक, दीपक** और **यमक** जैसे कतिपय अलंकार ही निर्दिष्ट किये थे। परवर्ती आचार्यों ने न जाने कितने नये भेदों की उद्‌भावना कर डाली। **'कर्मण्यण्'** का एक लक्ष्य कुम्भकार बताया गया है। उसी आधार पर यदि किसी ने नगरकार भी उद्‌भावित कर लिया तो कौन सा बड़ा मैदान मार लिया– **आहोपुरूषिका** कर ली – जो इतना हो–हल्ला मचा रखा गया है ?

(2) द्वितीय पक्ष– पहला पक्ष अभिधावादियों का है। ऐसे भी आचार्य हैं जिन्होंने वाच्य से अतिरिक्त अर्थ माना है– जिसे **'लक्ष्य'** कहा जाता है। यही अतिरिक्त अर्थ है। पहला मुख्य है और दूसरा अमुख्य। अमुख्य अर्थ को प्रस्तुत करने वाली शक्ति है– **भक्ति**। भक्ति का अर्थ है– **भज्यते सेव्यतेऽसौ पदार्थेन प्रसिद्धतयोत्प्रेक्ष्यते भक्तिः सामीप्यादि–** उस भक्ति से प्राप्त अर्थ भाक्त है। अथवा **'भक्तिः गुणसमुदायः– गुणद्वारा गुणिनि माणवकादौ वृतिर्यस्य) वृत्तिः शक्त्यार्थभागः तैक्ष्ण्यादिर्भक्तिः। अथवा भक्तिः प्रतिपाद्ये सामीप्यतैक्ष्ण्यादौ श्रद्धातिशयः– तां प्रयोजनत्वेनोद्दिश्य– तत आगतः।' भक्ति** का अर्थ सेवा, भाग तथा श्रद्धातिशय है। उसी से प्राप्त तृतीय पक्ष है अनाख्येयवादियों का। लक्ष्य अर्थ अमुख्य अर्थ है, किन्तु प्रक्रान्त अतिरिक्त अर्थ सहृदय साक्षिक प्रमुख अर्थ है। अतः उसकी सत्ता का अपलाप सङ्गत नहीं है। यदि यह मान भी लिया जाये कि वाच्य तथा लक्ष्य से अतिरिक्त प्रक्रान्त अर्थ हो भी तो भी नियामक के अभाव में अनाख्येय है। वह अर्थ अनियत है, अतः उसे परिभाषित किया जाना सम्भव नहीं है और जिसको लक्षण में बाँधकर परिभाषित न किया जा सके वह शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय कैसे होगा ? केवल इतना कहने से कि वह अर्थ केवल सहृदय–हृदय–संवेद्य है– कैसे काम चलेगा ?

समाधान– इस प्रकार **आनन्दवर्द्धन** ने पूर्वाचार्यों– अलंकारवादियों और रीतिवादियों की ओर से विपक्षी सम्भावनायें की हैं। प्रथम विकल्प का समाधान यह है कि यद्यपि शब्द से अर्थ की प्राप्ति समय–सापेक्ष है तथापि अनुभव कहता है कि शब्द की शक्ति विचित्र है– **'विचित्राः शब्दशक्तयः'**। जब अनुभव इस तथ्य का साक्षी है और व्यवहार में शब्द से वाच्यार्थ भिन्न अर्थ की प्राप्ति देखी भी जाती है, तब व्यवहारगत अनुभव के अनुरोध से मानना पड़ेगा कि शब्द समय–निरपेक्ष अर्थ भी देते हैं अथवा समय–सापेक्ष अर्थ देते हैं तो समय की ही परिधि का विस्तार कर लिया जाये। अभिप्राय यह है कि अभिधावादियों को **'समय'** की परिधि का व्यवहारानुभव के अनुरोध से विस्तार कर अतिरिक्त अर्थ की सत्ता माननी पड़ेगी। बैल का चतुष्पाद पशु अर्थ ही नहीं है, मूर्ख व्यक्ति अर्थ भी है। पहला मुख्य है और दूसरा अमुख्य। अतः यह मानना असङ्गत है कि समय–सापेक्ष वाच्य अर्थ से भिन्न अर्थ होता ही नहीं है।

दूसरा विकल्प यह है कि काव्य–चारुता का स्रोत गुण और अलङ्कार ही है–रीति तथा वृत्ति भी उसी में अन्तर्भुक्त है, अतः अतिरिक्त कुछ बचता ही नहीं है तो इसका समाधान यह है कि अभिधावादियों के परिचित **'समय'** की परिधि का विस्तार, प्राप्तव्य अतिरिक्त अर्थ को चारुता का स्रोत मानना। सम्भावित पक्ष में काव्य **'सुन्दर शब्दार्थमय'**– माना गया है। व्यवहार

मे भाषा **'शब्दार्थमय'** होती है और चिन्तनगर्भ शास्त्र में भी। यह केवल काव्य है जहाँ उसमें **'सुन्दर'** विशेषण लगाना आवश्यक है। प्रतिपक्षियों ने कहा था कि काव्य में कुल इतने ही घटक हैं।

शब्दार्थ (वाच्य, वाचक, लक्ष्य, लक्षक) – शब्दार्थगत चारूता, उस चारूता के शब्द और अर्थगत स्वरूपनिष्ठ हेतु अलङ्कार और योजनानिष्ठ हेतु–गुण। अतः यदि **'ध्वनि'** काव्य से सम्बद्ध है तो इन्हीं पूर्व स्वीकृत घटकों में ही अन्तर्भुक्त है और काव्य वाह्य है तो उस पर विचार की आवश्यकता ही नहीं है। इस सन्दर्भ में ऊपर उत्तर दिया जा चुका है। उत्तर यह है कि संकेत ग्रह सापेक्ष अर्थदान के **'समय'** का अतिक्रमण व्यवहार में होता है और तदर्थ शब्द की अमुख्य शक्ति भी स्वीकार की जाती है। अतः शब्द की समय–सापेक्ष एकमात्र **अभिधा** शक्ति ही है– अभिधावादियों का यह तर्क निरस्त हो जाता है। शब्द की **अभिधा** से भिन्न अतिरिक्त शक्ति मान ली जाने पर ध्वनिवादियों के चारूता–स्रोत अतिरिक्त अर्थ का समर्थन हो जाता है। यह अतिरिक्त अर्थ उक्त घटकों में अन्तर्भूत नहीं होता है। फलतः विरोधियों का यह पक्ष भी निरस्त हो जाता है।

प्रथम (अभाववादी) पक्ष का तीसरा विकल्प है प्रसिद्धि के अभाव में अतिरिक्त अर्थ का अस्वीकरण। उस सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त है कि अन्धे को यदि सूर्य न दिखे तो क्या सूर्य की सत्ता का ही अभाव घोषित कर दिया जाये ? जब व्यवहार–सम्मत अनुभव के साक्ष्य पर अतिरिक्त अर्थ की सत्ता सिद्ध है तब प्रसिद्धि का अभाव अज्ञान का ही विजृम्भण है।

प्रथम पक्ष का चतुर्थ विकल्प है– एक तदवधिक अनुद्भावित भेद–विशेष के रूप में अलङ्कार–विशेष रूप (**अप्रस्तुतप्रशंसा** आदि) ध्वनि को मानना, वह भी निरसनीय है। बात यह है कि अलङ्कार–विशेष अप्रस्तुतप्रशंसा आदि निश्चय ही ध्वनि स्वरूप हैं, किन्तु उनकी संख्या सीमित है। **ध्वनि** का क्षेत्र अधिक व्यापक है उसके अपरिमित भेद हैं। अतः उचित यह है कि बड़े क्षेत्र वाले में छोटे क्षेत्र वाले का समावेश हो, न कि छोटे क्षेत्र में बड़े क्षेत्र का। एतदर्थ अतिरिक्त अर्थ अथवा उसके प्रकाशक शब्द रूप ध्वनितत्व की सत्ता माननी होगी ही।

द्वितीय पक्ष का समाधान

द्वितीय पक्ष है भक्तिवाद। लाक्षणिक प्रयोगों का सद्भाव अतिरिक्त शक्ति का सद्भाव सिद्ध करता है। यह अतिरिक्त शक्ति अमुख्य शक्ति कहलाती है। भक्तिवादी इसी अमुख्य शक्ति में ध्वनि अथवा व्यञ्जना का अन्तर्भाव करना चाहते हैं– जो असम्भव है। व्यवहार में सङ्केत–निरपेक्ष और मुख्यार्थवाध–निरपेक्ष– अर्थ भी वाक्यों से सन्दर्भ विशेष में मिलते है, जिन्हें संकेतग्रहनिरपेक्ष होने से अनभिधेय और मुख्यार्थवाधनिरपेक्ष से अ–लक्ष्य कहा जा सकता है। ऐसी स्थिति में अनुभवसम्मत अतिरिक्त अर्थ का अपलाप असम्भव है। उसका अन्तर्भाव न तो वाच्य में हो सकता है और न ही लक्ष्य में। वक्ता का चरम अभिप्रेत होने के कारण न तो वह वाच्यार्थ रूप अनभिप्रेत मुख्यार्थ है और न ही अभिप्रेत होने के कारण अमुख्य लक्ष्यार्थ। **भ्रम धार्मिक विस्रब्ध–** में भ्रमण–निषेध जैसा अतिरिक्त अर्थ उक्त दोनों ही प्रकार के अर्थों में अन्तर्भुक्त नहीं किया जा सकता है।

तृतीय पक्ष का समाधान

तृतीय पक्ष वालों का तर्क है कि यदि वाच्य और लक्ष्य के अतिरिक्त अर्थ व्यवहारसम्मत अनुभव के आधार पर स्वीकार भी कर लिया जाय तब भी उसे परिभाषित कैसे किया जाये और परिभाषित न किया जाये तो अनाख्येय ही रह जायेगा– जो शास्त्रीय सन्दर्भ में एक बाधा है। शास्त्र का काम है– प्रमेय तत्त्व को निरूपणीय बनाना– परिभाषित करना। आनन्दवर्द्धन ने उसे परिभाषित कर इस पक्ष का भी समाधान कर दिया है। उन्होंने परिभाषा इस प्रकार दी है–

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।।[7]

जहाँ अर्थ अपने–आपको और शब्द अपने अर्थ को साधन (गौण) बनाकर अतिरिक्त अर्थ की व्यञ्जना करता हो– सूरियों ने उसे ध्वनि नामक काव्य–विशेष की संज्ञा दी है। लोचनकार ने ध्वनि संज्ञा में जिन अन्य और– और अर्थों की सम्भावना व्यक्त की है– उसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। ' लक्षण में दो परिभाषायें हैं– एक विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि पर लागू होती है और दूसरी अ. ..क्षेतवाच्य ध्वनि पर।

यद्यपि अविवक्षित वाच्य ध्वनि में शब्द[8] ही व्यञ्जक होता है तथापि अर्थ की सहकारिता रहती है। इसी प्रकार यद्यपि विवक्षितान्यपरवाच्य में अर्थ व्यञ्जक होता है– तथापि शब्द की भी वहाँ सहकारिता होती है (कम से कम वर्णनात्मक काव्य में)। अतः क्रिया के अनुसार कर्ता द्विवचन ही है– केवल शब्द और अर्थ का प्रयोग प्रधानता की दृष्टि से है। न तो अर्थ–निरपेक्ष शब्द और न ही शब्द–निरपेक्ष अर्थ काव्य में व्यञ्जनक्षम हो सकता है। इसीलिए **भट्टनायक** और **व्यक्तिविवेक-कार महिमभट्ट** आदि ने दोषोद्भावना की है– वह निरर्थक है। इस प्रकार अनाख्येयवाद भी निरस्त हो जाता है।

जब **आनन्दवर्द्धन अविवक्षित वाच्य** में शब्द की और **विवक्षितान्यपर वाच्य** में अर्थ की व्यञ्जकता प्रधानतः समझते हैं तब उनका आशय क्या है? यह इसलिए विचारणीय है कि **विवक्षितान्यपर वाच्य** में दो भेद हैं– **असंलक्ष्य क्रम** और **संलक्ष्य क्रम**। **संलक्ष्य क्रम** में भी दो भेद हैं– **शब्दशक्ति मूल** और **अर्थशक्ति मूल**। यहाँ यदि प्रधानतः अर्थ ही समग्रता में व्यञ्जक है तो उसका भेद– **शब्दशक्तिमूल** कैसे? इसमें तो प्रधानतः शब्द ही व्यञ्जक होगा। इसीलिए प्रदीपकार ने **काव्यप्रकाश** की अपनी टीका में कहा है– **व्यञ्जना च द्वेधा– शब्दनिष्ठार्थनिष्ठा चेति। तत्राथापि द्वेधा–अभिधामूला लक्षणामूला चेति।** अर्थात् व्यञ्जना के दो भेद हैं– **शब्दनिष्ठा** और **अर्थनिष्ठा**। शब्दनिष्ठा के भी दो भेद हैं– **अभिधामूल** और **लक्षणामूल**। अभिप्राय यह है कि शब्द की प्रधानता **लक्षणामूल अविवक्षित वाच्य ध्वनि** में तो है **विवक्षितान्यपर वाच्य** के **शब्दशक्ति मूल** वाले भेद में भी है। यहाँ फिर एक प्रश्न उठता है कि **अभिधामूल ध्वनि** में (**भद्रात्मनो** में) शब्द परिवर्तन–सहिष्णु नहीं है– अतः यहाँ शब्द की प्रधानतः व्यञ्जकता है, किन्तु लक्षणामूल '**गंगायां घोषः**' में वह कैसे सम्भव है? यहाँ गंगा के स्थान पर भागीरथी का प्रयोग भी कर दिया जाय तब भी व्यञ्जकता कहाँ क्षीण होती है? तत्त्वतः यह बात स्पष्ट

---

7. ध्वन्यालोक, 1.13
8. वही (लोचन)

नहीं है। तब क्या यह मान लिया जाये कि उक्त लक्षण का प्रथमार्ध **शब्दशक्ति मूल ध्वनि** का और उत्तरार्ध **अर्थशक्तिमूल** का लक्षण माना जाये? यदि ऐसा माना गया तब लोचनकार की व्याख्या– **'द्विवचनेनेत्याह यद्य–'** इत्यादि की संगति कैसे लगेगी? वस्तुतः प्रदीप-कार ने ऐसा कहकर एक समस्या ही खड़ी की है। समर्थन में **झलकीकर** ने भी वस्तुतः असमर्थता ही व्यक्त की है– तथापि जैसे–तैसे यह कहा है कि **लक्षणामूलक ध्वनि** इसलिए शब्द है कि वहाँ लाक्षणिक शब्द रहने पर ही व्यञ्जना होती है, उसे **'वाचक'** बना देने पर नहीं। जैसे **'गंगा में घर है'** और **'गंगा तीर पर घर है'**– दोनों प्रयोगों में पहले में ही व्यञ्जकता है– दूसरे में नहीं।

ध्वनिकार के बाद भी ध्वनिवादी और ध्वनिविरोधी आचार्य होते रहे हैं और उनका खण्डन–मण्डन चलता रहा है। विरोधियों में **कुन्तक, महिमभट्ट, धनिक, धनञ्जय, मुकुलभट्ट** आदि हैं। **कुन्तक** ने कहा है कि काव्य में शब्द एक ही प्रकार का होता है और शास्त्र तथा व्यवहार में क्षुण्ण शब्द की अपेक्षा वह **'वक्र शब्द'** होता है और उसकी शक्ति 'विचित्र अभिधा' या **'वक्र अभिधा'** है। उपचारतः प्रतिपादक होने से लक्षक और व्यञ्जक का भी यहाँ समावेश हो जायेगा। फलतः काव्य में शब्द का तीन नहीं, एक ही भेद होता है– उपयुक्त या सटीक शब्द। **महिमभट्ट** ने इनका खण्डन किया है और कहा है कि यह शब्दगत 'वक्रता' क्या है? या तो काव्य के केन्द्रीय तत्त्व सौन्दर्य का स्रोत अतिरिक्त व्यङ्ग्य अर्थ का प्रतिपादक व्यञ्जकगत व्यञ्जकता है अथवा उस सौन्दर्य के अनुरूप पड़ने के कारण अनुरूपगत– आनुरूप्य या औचित्य। यदि व्यञ्जकता है तो पूर्वप्रतिपादित है और यदि औचित्य है तो काव्य के स्वरूप में ही निहित है– अलग से उसको निरूपित करना निरर्थक है। दूसरे, यह कि **कुन्तक** अपने ग्रन्थ में अनेकत्र व्यञ्जकता का वमन करते हैं– वह उनकी वक्रता में पच नहीं सकता है। **महिमभट्ट** ने यह कहकर अनुमान में गतार्थ करना चाहा कि अर्थ (वाच्यादि) से अर्थान्तर की प्रतीति नियत सम्बन्ध से ही सम्भव है और नियत सम्बन्ध व्याप्ति है। व्याप्ति से प्राप्त अर्थ अनुमेय होता है। अनुमेय अर्थ अनुमान प्रमाण से प्राप्त होता है, शब्द प्रमाण से नहीं। अतः नियत सम्बन्ध से प्राप्त अर्थ (व्यङ्ग्य अर्थ) प्रमाणान्तर से प्राप्त होने के कारण शब्द का अर्थ ही नहीं है। अतः व्यङ्ग्य अर्थ शब्दार्थ नहीं है। फलतः उसका प्रतिपादक शब्द न तो व्यञ्जक है और न ही उसकी शक्ति व्यञ्जना। **मम्मट** ने अपने **काव्यप्रकाश** में इनका दृढ़ता से खण्डन किया है और बताया है कि यहाँ का सम्बन्धगत नैयत्य औपाधिक है– स्वाभाविक नहीं। अनुमान का सम्बन्धगत नियम स्वाभाविक होता है। **दशरूपक-कार** में तात्पर्य का स्वरूप वहाँ तक बढ़ा दिया था जहाँ तक वक्ता का तात्पर्य जाता हो। पर इस रूप में तात्पर्य व्यञ्जना का नामान्तर ही है। ऐसे ही बढ़ाना है तब तो वाणव्यापार की भाँति अभिधा को ही बढ़ाया जा सकता है और शब्द के एक ही वेग से अनेकविध अर्थों की प्रतीति मानी जा सकती है। पर यह सब शब्द की भिन्न–भिन्न भङ्गिमाओं से व्यञ्जना का ही प्रतिपादन है। व्यञ्जना का खण्डन न होने से ध्वनि की सत्ता अपरिहार्य रूप से स्वीकरणीय है।

स्वयं ध्वनिवादियों में अनेक बिन्दुओं पर मतभेद है। काव्य के भेद के ही विषय में देखा जाये तो ध्वनिकार कहीं **'ध्वनिरेव काव्यम्'** कहते हैं और कहीं **'उभे'** (ध्वनि और गुणीभूत) की बात करते हैं। वह चित्र काव्य को काव्य ही नहीं मानते हैं। **मम्मट** चित्र को काव्य मानते हैं पर नीरस बन्ध चित्र को काव्य नहीं मानते हैं। **पण्डितराज** उसे भी मानते हैं। **दर्पण-कार** दो ही काव्यभेद मानते हैं– ध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्य। प्रश्न यह है कि मध्यम की कल्पना क्या

कनिष्ठ के बिना ही सम्भव है ? विचार का दूसरा बिन्दु है– ध्वनि के भेद पर। **मम्मट 10455** भेद मानते हैं, जबकि दर्पणकार **5355**। इसी प्रकार तीसरा बिन्दु है– **'वाच्यप्रतीयमानाख्यौ'** के सन्दर्भ में दोनों की समकक्षता अथवा विषमकक्षता। पं. पट्टाभिराम शास्त्री का पक्ष है कि लोचनकार तदर्थ (समकक्षता के लिए) यत्र–तत्र यत्नशील है। अभिप्राय वाच्य में भी व्यङ्ग्य की भाँति नवता अथवा आनन्त्य है या नहीं– इस प्रश्न पर मतभेद है। शास्त्री जी का पक्ष है कि **मम्मट** वाच्य को एकरूप और व्यङ्ग्य को अनेकरूपात्मक मानते हैं, जबकि **आनन्दवर्द्धन** ने दोनों में नवता और आनन्त्य स्वीकार करते हैं। यह अवश्य है कि व्यङ्ग्य वाच्य से अतिरिक्त है। एक ओर **आनन्दवर्द्धन** काव्यगत वाच्य की अकाव्यगत वाच्य से व्यतिरेक दिखाकर स्वतः सुन्दर होने की बात करते हैं– दूसरी ओर **पण्डितराज जगन्नाथ** प्रतीयमान संस्पर्श के बिना चारूता मानते ही नहीं हैं।

■ ■ ■

शब्द और सृष्टि

प्रायः संसार की सभी पवित्र पुस्तकों– वेद, कुरान, बाइबिल आदि में शब्द से सृष्टि की बात कही गयी है। सबसे पहले प्राचीनतम भारतीय वाङ्मय–वैदिक साहित्य को लें। वेद का शब्दिक अर्थ ही है– ज्ञान। वह ज्ञानमय है। **मनुस्मृति** कहती है– **सर्वज्ञानमयो हि सः**। **ऋग्वेद** में कहा गया है–

वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे, वाच इत सर्वममृतं यच्च मर्त्यम्। **शतपथ ब्राह्मण** में कहा गया है–

वाचा वाचा हीदं हीदं सर्वं कृतम्

यजुर्वेद में वाक् को विश्वकर्मा ऋषि कहा गया है। **वृहदारण्यक** में कहा गया है कि–

वाग्वै सम्राट् परमं ब्रह्म

तैत्तिरीय आरण्यक में कहा गया है–

स भूरिति व्याहरन्, स भूमिमसृजत्

वाक्यपदीय-कार का कथन है कि–

शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निवन्धिनी[1]–

इस विश्व का मूल शब्द शक्ति ही है। अन्यत्र भी कहा गया है–

शब्दस्य परिणामोपमित्याम्नायविदो विदुः।
छन्दोभ्य एव प्रथममेतद्विश्वं व्यवर्तत।।

आम्नाय के मर्मविद् जानते हैं कि सारा विश्व शब्द का परिणाम है– **छन्दोमयी वाक्** से ही विश्व हुआ है। अथवा **'सर्वमोङ्कार एव यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदपि ओंकार एवं।** निष्कर्ष यह कि सम्पूर्ण भारतीय चिन्तन यह मानता है कि शब्द ही विश्व का बीज है।

बाइबिल के Old और New Testaments में भी यही आशय व्यक्त किया गया है। एकत्र कहा गया है ***'Let there be light and there was light'*** अन्यत्र कहा गया है कि ***'In the beginning there was the word and the word was with God and God was the word'.***

---

1. वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड - 118

अर्थात् ईश्वर ने कहा कि प्रकाश हो और प्रकाश हो गया। अन्यत्र कहा गया है कि आदि में शब्द ही था– वह ईश्वर के साथ था– यहाँ तक कि शब्द ही ईश्वर है।

इसी प्रकार कुरान में कहा गया है कि **'कुन'**–अल्लाह ने कहा **'हो जा'** और सृष्टि हो गयी।' इसी प्रकार अन्यत्र भी Logos को मूल कहा गया है।

क्या यह सब निराधार जल्पना है, अकारण ही इन दिव्य पुस्तकों में संवाद दिखाई देता है– ऐसा प्रतीत नहीं होता है। प्रश्न या जिज्ञासा यह अवश्य खड़ी होती है कि यह कौन सा शब्द है– वही जिसे हम कान से सुनते हैं, जो वक्ता के वाग्यन्त्र से समुच्चारित होता है। पर इससे कैसे सभी उत्पन्न होंगे– यह तो स्वयम् अपनी सत्ता के निमित्त अन्य उपकरणों का मुखापेक्षी है उसके लिए निम्नलिखित उपादान और निमित्त कारणों की अपेक्षा होगी–

(1) वायुमण्डल में किसी एक स्थान से उत्तेजना की सृष्टि

(2) विक्षुब्ध जलतरंगों की भाँति उसी उत्तेजना का हमारे कानों, स्वरयन्त्रों तथा मस्तिष्क केन्द्र तक बिखरकर आघात देना।

(3) इस उत्तेजना का भी स्पन्दन एक निश्चित सीमा के न तो नीचे जा सकता है और न ऊपर– इसी के बीच होना चाहिए।

(4) इन ध्वनितरंगों का संवहन करने के लिए वायु का वाहन भी अपेक्षित है। वायुविहीन बन्द काँच के गोले में हिलता हुआ घण्टा भी ध्वनितरंग को श्रोता के कान तक नहीं पहुँचा सकता है।

(5) श्रवण यन्त्र, स्नायुसूत्र समूह और अनुभूति के केन्द्रगुच्छ विशेष को अपेक्षित आघात आवश्यक है।

(6) इन सबके साथ (थोड़ा बहुत) मनः संयोग भी अपेक्षित है।

इतने निमित्तों की अपेक्षा करने वाला श्रुतिगोचर शब्द सम्पूर्ण सृष्टि का मूल कैसे हो सकता है? अतः सृष्टि मूलभूत शब्द का स्वरूप अन्यथा निरूपित करना होगा। श्रुतिगोचर अन्यसापेक्ष शब्द सृष्टि का मूल उपादान नहीं हो सकता है। यह शब्द जिन निमित्तों और उपादानों की अपेक्षा करता है वे सृष्टि के अन्तर्गत होने से उससे पूर्व थे ही नहीं– फिर वह शब्द क्या है? उसका स्वरूप क्या है?

निगम, आगम और विज्ञान– सभी एक स्वर से इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि सृष्टि– अर्थात् भूतभावमय जगत् का मूल विसर्गात्मक कर्म है– आद्यस्पन्द (Primordial-causal-movement– प्राथमिक स्पन्द)। 'Stir' या हलचल (Agitation) है। यही मूल तत्त्व का ईक्षण है, संकल्प है– आद्यस्पन्द को 'शब्द' क्यों कहा जाये?

भौतिकी के विद्वान् **डॉ. प्रमथनाथ तर्कभूषण** ने जो बाद में **प्रत्यगात्मानंद सरस्वती** के नाम से प्रसिद्ध हुए थे, एक पुस्तक लिखी है– **जयसूत्रम्** और उसकी एक विस्तृत भूमिका भी दी है। उसमें उन्होंने यह कहा है कि यह जगत् ज्ञान-ज्ञेयात्मक है। ज्ञान से तात्पर्य यहाँ

दार्शनिक शब्दावली में वृत्त्यात्मकज्ञान से है जो अभिव्यक्त–अनभिव्यक्त होता रहता है। अपनी अभिव्यक्ति की सामग्री से संयुक्त रहता है और सामग्री से सम्बन्ध छूट जाने पर अनभिव्यक्त हो जाता है। शब्द, रूप, रस, स्पर्श तथा गन्ध का ज्ञान है क्या ? मनोविज्ञान-सम्मत प्रक्रिया यही है कि विषय से इन्द्रियों पर आघात होता है– इन्द्रियाँ स्नायुतन्त्र पर आघात करती हैं और ज्ञानवाही स्नायुतन्त्र मस्तिष्क केन्द्र के गुच्छविशेष पर आघात करते हैं। इस सारी प्रक्रिया को हम स्नायविक धक्का कहते हैं। इस आघात से जो प्रतिक्रिया अथवा **Response** होता है वही आघात स्पन्दन अथवा धक्का विनय की अनुभूति अथवा वृत्त्यात्मक ज्ञान है। दार्शनिक दृष्टि से भिन्न– भिन्न दर्शनों में इसकी भिन्न–भिन्न प्रक्रिया है। सांख्य में विषय का इन्द्रिय से सम्पर्क होने पर जिस द्रवात्मक अंतःकरण पर विलय–विषयक छाया हुआ आवरण हट जाता है और मेड़ के टूटने पर जिस प्रकार जलाशय का जल विषम क्षेत्र में जाकर तदाकाराकारित हो जाता है, तब इस विषयाकार परिणत अन्तःकरण की वृत्ति प्रकृत्ति से तादात्म्यापन्न चित्पुरूष में प्रतिबिम्बित होती है। यही पौरूषेय बोध प्रमात्मक फल है। वेदान्त मानता है कि विषयावच्छिन्न चैतन्य और अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य की एकरूपता प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है। अस्तु। कहना यह है कि अनुभूति अथवा वृत्त्यात्मक ज्ञान–विज्ञान के कोण से एक स्नायविक धक्का है।

अब, विषय या क्षेत्र के कोण से जगत् पर विचार किया जाये तो जो सिद्धान्त ज्ञान के कोण से विचार करने पर स्थिर होता है वही ज्ञेय के कोण से विचार करने पर भी सिद्ध होता है। ज्ञेय अथवा विषय कोई भी हो उसका विखण्डन हो सकता है और अन्तिम रूप से विखण्डित अंश को प्रायः परमाणु अथवा Atom कहते हैं। भौतिकी के ये रासायनिक अणु–परमाणु कोई अन्तिम विराम नहीं है– अब तो इनका भी विखण्डन हो चुका है। यह सिद्ध हो चुका है कि ये सभी एक यौगिक द्रव्य हैं और उनकी गठन–प्रणाली जटिल है। जिन सूक्ष्मतर उपादानों से वे गठित हैं, उन्हें विज्ञान Electron कहता है। वे विद्युदणु हैं– तडिदणु हैं। अणुओं की भीतरी संरचना एक सौर जगत् की संरचना की भाँति है। जिस प्रकार सौर जगत् में ग्रह–उपग्रह अपने निर्दिष्ट पथ पर गतिशील रहते हैं– आणविक जगत् की भी स्थिति यही है। अणु गतिशील हैं, पर बाहर से ही नहीं उनके भीतर भी गति ही है, वह भीतर अस्थिर नहीं है। उसके घटक Electron भी चञ्चल हैं। कभी–कभी उनकी गति आलोकतरंग की गति के आस–पास आ जाती है अर्थात् एक सेकेण्ड में प्रायः दो लाख मील। पर क्या इलेक्ट्रान भी निरपेक्ष सूक्ष्म है। इसकी भी अन्तः संरचना को जानने का प्रयास हुआ है। उर्मिविज्ञान ने इलेक्ट्रान की अन्तः संरचना देखी है अथवा देखने का प्रयास किया है। वह भी एक सावयव द्रव्य है। इन अवयवों के भी कला तथा वर्ण (Partial तथा Element) होना ही चाहिए। और यदि ऐसा है तो क्या वे चञ्चल नहीं है ?, गतिशील नहीं है ? वस्तुतः जगत् का जो मूल ढाँचा है वह हमारी कल्पना में आ सकता है– इस धारणा को आपेक्षिकतावाद या संभाव्यता उर्मिविज्ञान के द्वारा समझना भी चाहें तो सम्भव नहीं लग रहा है– अणु के क्षेत्र में भी और विपुल के क्षेत्र में भी। इस स्थिति में निश्चित नहीं, अनिश्चित सम्भावना को मानकर चलना पड़ता है।

निष्कर्ष यह है कि ज्ञान ज्ञेयात्मक जगत् को जिस भी कोण से देखा जाये वह गति का ही नाम है। इसीलिए **'गच्छतीति जगत्'** संज्ञा भी अन्वर्थ हो जाती है। बनना और बिगड़ना गति से ही सम्भव है। वह गति संयोग और वियोग, आकर्षण और विकर्षण से होती रहती है। अभिप्राय यह है कि गति ही सब कुछ है, किन्तु साथ–साथ प्रश्न यह भी है कि गति ही गति

ही है ? क्या स्थिति के बिना गति समझ में आ सकती है ? इसलिए मूल सत्ता के ये दो पक्ष हैं– प्रलय की ओर से देखने पर स्थिति और सृष्टि की ओर से देखने पर गति। किसी कोण अथवा अपेक्षा बुद्धि से न देखें तो न वह गति है और न स्थिति। साथ ही वह यह सब नहीं है तो आया कहाँ से। निष्कर्ष यह कि वह **गति** भी है **स्थिति** भी है– एक साथ उभय भी और अनुभव भी, और न जाने क्या–क्या। अन्ततः है रहस्यमय। अतः मूल सत्ता वागगोचर है। दोनों दशाओं को समेटकर ही सत्य पूर्ण होता है– केवल एक रूप में मानना उसे खण्ड रूप में मानना है।

अस्तु, जगत् गति का नामान्तर है। वह अपने ज्ञान-ज्ञेयात्मक उभयरूप में गतिशील है– स्पन्दात्मा है, 'किञ्चिच्चलनात्मक' है– स्वरूप से अप्रच्युत न होने से सामान्य गति पद वाच्य भी नहीं है और किञ्चित् चलनात्मक होने से गतिमय भी है। इस स्पन्दात्मा गति को सृष्टि का मूल उपादान कहा जाता है। इसे शक्ति अथवा Energy भी कह सकते हैं– जो तन्त्रों में सङ्कोच–प्रसारात्मिका कही जाती है। विज्ञान उसे जड़ मानता है। भारतीय चिन्तन उसे चिन्मय कहता है। अब प्रश्न यह उठता है कि इसकी संज्ञा **'शब्द'** क्यों दी जा रही है ? वह तो श्रुतिग्राह्य विषय है। उत्तर यह है कि कोई न कोई संज्ञा तो दी ही जायेगी– अनामा रखने से व्यवहार कैसे चलेगा। तो रूप, रस, शब्द, गन्ध और स्पर्श में शेष चार की तुलना में शब्द अपेक्षाकृत गति में ही अपनी सत्ता रखता है, स्थिति में नहीं। रूप, एस, गन्ध और स्पर्श अपेक्षाकृत स्थिर हैं। दूसरी बात यह है कि शब्द में रचनात्मकता है– सर्जनात्मकता है, बनाने–बिगाड़ने की क्षमता है। प्रयोग करके देखा गया है कि दर्पण पर अव्यवस्थित रूप से बिखरे पड़े रजःकणों पर उत्तम संगीत के प्रभाव से व्यवस्थित होने लगते हैं। संगीत से ही **ओंकारनाथ ठाकुर** ने **मुसोलिनी** को सुला दिया था। निष्कर्ष यह है कि शब्द में मूल सत्ता अथवा स्पन्दात्मा शक्ति के दो गुण हैं– गतिरूपता और सर्जनात्मकता। शब्द में ये दोनों गुण पाये जाते हैं– इसलिए मूल सत्य को गौणी लक्षणा से शब्द कहा जाता है। इसीलिए सृष्टि को शब्दपूर्विका कहा जाता है।

इस सर्जक शब्द को फिर दूसरी पद्धति से समझें। ऊपर कहा गया कि **'चल'** की कल्पना **'अचल'** सापेक्ष है। अतः मूल स्पन्द से परे की अवस्था को निःस्पन्द या अशब्दात्मक ही कहना होगा। जब यह अनुभव तथा तर्क उभयतः सिद्ध है कि जहाँ चाञ्चल्य होगा वहाँ शब्द होगा ही, तो यह भी मानना पड़ता है कि चाञ्चल्य की मात्रा की तारतमिकता तज्जन्य शब्द में भी होगी। यह मात्रा चाञ्चल्य में जितनी स्थूल होगी, तज्जन्य शब्द भी उतना ही श्रवणग्राह्य होगा। इस प्रकार चाञ्चल्य के सूक्ष्म सूक्ष्मतर होते जाने की भी एक सीमा होगी और साथ–साथ श्रवण–सामर्थ्य की भी सातिशयता अथवा तारतामिकता होगी। इस कल्पना से पीछे चलते–चलते जहाँ हमारे श्रवण अनुभवसामर्थ्य की चरम सीमा होगी, निरतिशय सामर्थ्य उसके बाद आयेगा और इस निरतिशय श्रवणसामर्थ्य से श्रुत शब्द **'शब्दतन्मात्र'** होगा– उसमें भी सातिशयता नाम की विकृति न होगी। वह तदेव अथवा तन्मात्रा होगा, अर्थात् वहाँ किसी प्रकार का साङ्कर्य न होगा। साङ्कर्य होते ही उसकी तन्मात्रता समाप्त हो जायेगी, वह शुद्ध न होकर विकृत माना जायेगा। क्या सङ्कीर्ण अथवा विकृत शब्द सर्वश्राव्य होता है ? नहीं। तभी तो यन्त्रों से हम अपना श्रवणसामर्थ्य बढ़ाते जाते हैं और यन्त्र चुक जाते हैं। शब्द की सूक्ष्मता, स्तुतिशयता बढ़ती जाती है। जैव कोशों में तैरते जीवाणुओं का स्पन्दन हम सुन सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि विकृत अथवा संकीर्ण शब्द भी दो प्रकार के हैं– स्थूल और सूक्ष्म। दूसरा सूक्ष्मयन्त्रों तथा

योगियों के श्रवणसामर्थ्य से सुना जा सकता है और पहला सर्वसामान्य के लिए श्रव्य है। एक बात और। प्रत्येक पदार्थ अथवा रचना के मूल में एक शक्तिसमूह रहता है जिसकी हलचल अथवा जिसकी मुखरता को उसकी प्रकृति में सुनने का सामर्थ्य निरतिशय श्रव्य सामर्थ्य है। यह निरतिशय श्रवणसामर्थ्य ग्राह्य तन्मात्र शब्द है, स्पन्दन विशेष। स्पन्दन विशेष में भी अनुस्यूत एक सामान्य स्पन्दन है और उससे परे निःस्पन्दन वाग्ब्रह्म से परे परब्रह्म। अत एव कहा गया है कि–

शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति। इस प्रकार मूल में अशब्द, तदनन्तर सामान्य स्पन्दन, फिर विशेष स्पन्दन (तन्मात्र) असङ्कीर्ण शब्द तदनन्तर सङ्कीर्ण या विकृत के सूक्ष्म और स्थूल। चित्र यों हुआ–

शब्दातीत–निस्पन्दशा
- शुद्ध शब्द
  - सामान्य स्पन्दन
  - स्पन्दनविशेष
    निरतिशय–शब्दतन्मात्र
- सङ्कीर्ण शब्द
  - सूक्ष्म
  - स्थूल

तन्त्रग्रन्थों में पाँच स्तरों का उल्लेख प्राप्त होता है– जाग्रत, स्वप्न, सुसुप्ति, तुर्य और तुर्यातीत। **प्रपञ्चसारतन्त्र** के टीकाकार **पद्मपादाचार्य** ने स्थूल, सूक्ष्म, कारण सामान्य और साक्षी के नाम से इन पाँचों का उल्लेख किया है। इस प्रकार शब्द के कुल रूप भी पाँच हैं–

(1) निःस्पन्दन = अशब्द

(2) स्पन्दसामान्य = परशब्द–अश्रुत

(3) अपनी प्रकृति में स्पन्दविशेष = शब्दतन्मात्र (निरतिशय श्रवणसामर्थ्यश्रुतशब्द)

(4) विकृति में ग्राह्य = सूक्ष्म शब्द–साधना अथवा यन्त्र से श्रुत

(5) विकृति में ग्राह्य = स्थूल शब्द–वैखरीशब्द श्रोतेन्द्रियग्राह्य

इस तथ्य को पौराणिक भाषा या मिथकीय भाषा में हमारे प्राक्तन ऋषि भी कहते आये हैं। गंगावतरण की मिथकीय कथा वागवतरण या सृष्टि प्राकट्य की ही उपर्युक्त पाँच अवस्थाओं का निरूपण कर रही हैं। **पद्मपादाचार्य** द्वारा कथित तुरीय ही शब्द ब्रह्म है, जिसका अतिक्रम करके अतिसूर्य या परब्रह्म पद की प्राप्ति होती है। प्रथम को परप्रणव और द्वितीय को अपरप्रणव भी कहा जाता है। **'मन्त्र और मातृकाओं का रहस्य'**– में कहा गया है कि विभिन्न नभ के सदृश शोभित वह परम शिव वहिर्मुख होने की इच्छा से किञ्चित् चलित होता है। यह चलन उसका आद्य प्रसर है। इसी को स्पन्द, प्राण और ऊर्मि की संज्ञा दी जाती है। परमशिव रूप पर संवित् का यह प्रथम स्पन्दन स्फुरता अथवा प्रतिभा नामक परावाक् है जो अपना अपरिमित प्रमातृ–प्रमेयों का उद्भव स्थान है। इसे यों भी समझा जा सकता है। नाद सर्वप्रथम अनादावस्था से उतरकर परास्वरूप होकर मूलाधार से उठता है। पुनः मणिपूर और अनाहत चक्रों में आकर प्राण और मन से संयुक्त होकर पश्यन्ती और मध्यमा के रूप में परिणत हो जाता है। अनन्तर कण्ठ में उतरकर

वही वैखरी रूप वर्णात्मकता को ग्रहण करता है। समस्त वर्णों के कारणता स्वरूप उस नाद में वर्णराशि सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहती है, जैसे बीज में पुष्प, फल आदि।

मूलाधार से भी नीचे **वाग्गवकार** त्रिकोण में समष्टि कुण्डलिनी का निवास है। मूलाधार में अग्नि कुण्डलिनी, हृदय में सूर्य कुण्डलिनी ओर भ्रूमध्य में सोम कुण्डलिनी की स्थिति है। वस्तुतः इससे समष्टि प्रणव तथा अकार, उकार तथा मकार का ही बोध होता है **(साम्बपञ्चाशिका)। परमादित्यस्तोत्र** में कहा गया है कि परमादित्य प्राणिमात्र के अन्तर्गत शब्दात्मक ओंकार अथवा प्रणव के रूप में निनादित होता रहता है और उससे तन्मात्रात्मक शब्द को गर्भ में लिए हुए परा का प्राकट्य होता है। कहा गया है कि–

ओमिति प्रत्यन्तर्णदति नियतं यः प्रतिपाणिशब्दः
वाणी यस्मात् प्रभवति परा शब्दतन्मात्रगर्भा।
प्राणापानौ वहति च समो यो मिथो ग्रामसक्तो
देहस्थं तं सपदि परमादित्यमाद्यं प्रपद्ये।।

भास्करराय मखी का कहना है शब्द ब्रह्म रूप बीज की उच्छूनावस्था परा है– स्फुटितावस्था पश्यन्ती, मुकुलितावस्था अव्यक्त और दलद्वयाकार मध्यमा और सम्यक् विकसित अवस्था ही वैखरी है।[2]

अस्तु, गंगावतरण की मिथकीय आभा के माध्यम से उक्त पाँच स्तरों वाली सृष्टि के अवतरण की कथा भी व्याख्यात करती है। ऊपर कहा गया है कि जहाँ बिलकुल क्षोभ या चाञ्चल्य नहीं है– वह **अशब्द** की अवस्था है। इसका कारण यह है कि जहाँ चाञ्चल्य ही न होगा वहाँ शब्द किस प्रकार होगा? उसके बाद चाञ्चल्य होता है, परन्तु सुनने के लिए कोई कान नहीं है– वह परशब्द है। उसके बाद चाञ्चल्य रहता है और वह निरतिशय भाव से सुना जाता है– यही **शब्दतन्मात्र** है। उसके बाद चाञ्चल्य को हमारा भौतिक कर्ण नहीं पकड़ पाता है– यही सूक्ष्म शब्द है। सबके अन्त में चाञ्चल्य भौतिक कर्ण को भी उत्तेजित करके शब्द–ज्ञान उत्पन्न कराता है– यही स्थूल शब्द है।[3]

गंगा विष्णुपादोद्भवा है। उसे विष्णुपदी कहा गया है। फलतः विष्णुधाम अथवा वैकुण्ठ धाम अथवा गोलोक धाम से उसकी उत्पत्ति है। 'गो' शब्द का अर्थ वाक् ही है। नटराज पता नहीं किस आनन्दोच्छल दशा में नृत्य कर रहे हैं। कहा गया है कि वह रस भाव विवर्जित दशा है। वह अशब्दवाच्य है। इस नृत्य में सर्वभूतान्तरात्मा को सात्विकभान हुआ–चाञ्चल्य हुआ–सिसृक्षा हुई–गोलोक की परावाक् **पर शब्द** बन गयी। विष्णु पद **(तद् विष्णोः परमं पदम्)** जब चञ्चल हुआ तभी गंगा बनी। यह सनातनी वेदमयी शब्दमयी गंगा है। इसकी तीन धारायें हम जान सके हैं– **ऋक्, साम, यजुः** तथा **वैखरी, मध्यमा** और **पश्यन्ती**। विष्णुपदप्रसूत पर शब्दात्मक गंगा को प्रजापति ने अपने कमण्डलु में धारण किया– यहाँ परावाक् अपरा वाक् हो गयी, पर शब्द शब्दतन्मात्र हो गया। शब्द का मूलभूत चाञ्चल्य विशुद्ध और निरतिशय शब्दरूप में प्रकृत शिव हुआ। प्रजापति का कमण्डलु उनका ध्यान अथवा पारमार्थिक कर्ण है। यहाँ तक शब्द अपनी

2. वरिवस्यारहस्य
3. जयसूत्रम्, पृ. 18

प्रकृति में ही है। प्रजापति के कमण्डलु में जो गंगा–**पश्यन्ती (शब्दतन्मात्रगर्भा)** रही। वही **ब्रह्मा** के कमण्डलु से **हर** की जटा में पहुँचकर गंगा पथ खोकर कलकल ध्वनि करने लगी। यह है शब्द की सूक्ष्म अवस्था मध्यमा। इसे योगी जन दिव्यकर्ण से सुन पाते हैं। महादेव आखिर योगेश्वर हैं। अन्त में वह **'गोमुखी'** में उतरी, वसुधा पर उतरी। यही शब्द की स्थूल मूर्ति वैखरी है। गोलोक से गोमुखी तक की यह यात्रा है। बात यहीं समाप्त नहीं होती है। गंगा गंगासागर तक यात्रा करती है। आदि विद्वान् **कपिल** जिसमें श्रुति प्रवाहित है– सगरसुत उसकी अवहेलना करते हैं। यही उनका पातित्य और भस्मीभवन है, जीवसाधारण का पातित्य है। भगीरथ तपस्या कर उसी बीज शब्दमयी वेदवाणी को उतारते हैं। अड़चन फिर आयी। एक ओर जह्नु मुनि ने उस पुण्यतोया का पान कर लिया और फिर बाहर कर दिया। वह **पद्मासुर** पथ भुलाकर उसे दूसरे पथ पर ले जाने लगा। स्वाभाविक शब्द यथा रूद्र रहकर हमारा मङ्गल करे– इसमें दो बाधक हैं। पहला है– विस्मृति और दूसरा है विकृति। न भूलने से काम चलेगा और न ही विकृत कर डालने से। **जह्नु मुनि** पहले के संकेत हैं और **पद्मासुर** दूसरे के। **जह्नु मुनि** की विस्मृति योगविस्मृति है– निर्वीज समाधि की निसृति है यह– यह अशब्दावस्था है। इस अवस्था में प्रशान्तचित् समुद्र रहता है। यहाँ तो स्वाभाविक शब्द भी प्रशान्त रहता है। यह अन्तिम स्तर की अनुभूति है। यह योग विस्मृति है। **जह्नु मुनि** यदि उस शब्दराशि को सम्प्रदाय में चला दें तो हम सबका उद्धार हो जाये। इसीलिए **जह्नु** की जङ्घा चीरकर **जाह्नवी** को बाहर करना पड़ा। जङ्घा चीरने का अभिप्राय है– उत्तमाङ्ग से अधमाङ्ग की ओर अवतरण– उच्च स्तर से निम्न स्तर की ओर हम सबकी कल्याणकामना से अवतरण। **पद्मासुर** के पथ में अनुगमन नहीं करता है। **भगीरथ** इस प्रवाह को बनाये रखने के लिए अपेक्षित तपस्या के प्रतीक हैं। कुछ ऐसा ही आशय **'दुर्गासप्तशती'** के प्रथम चरित्र में भी निहित है।

■ ■ ■